अग्नि-शिखा

देवेन्द्र दत्त तिवारी 'देवेन्द्र'

कवि
देवेन्द्र दत्त तिवारी
विशेष-पदाधिकारी, शिक्षा-विभाग
उत्तर-प्रदेश, प्रयाग

प्रथमबार : ११००
अगस्त '६०
कीमत : तीन रुपये

प्रकाशक
सर्वोदय-साहित्य-प्रकाशन
बुलानाला, वाराणसी

मुद्रक
जीवन-शिक्षा मुद्रणालय
बुलानाला, वाराणसी

अपनी बात

ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने का इतिहास पुराना नहीं है। प्रस्तुत संग्रह में उस विद्रोही, उस असहनशील अनल के स्वर हैं जो स्वतन्त्रता संग्राम के अन्तिम चरण में राष्ट्रीय जीवन के कण-कण से मुखरित हुए थे और जिनसे संवेदनशील कवि की आत्मा अछूती न रह सकी। 'अग्नि-शिखा' राष्ट्रीय चेतना के उन्हीं विद्रोही स्वरों को भाषा में प्रवाहित करने का प्रयास है।

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में दमन और विद्रोह के क्षण आते हैं और गोलियों की बौछारों तथा रक्तरंजित बलिदानों से देश की गौरवपूर्ण, पौरुषपूर्ण कथा लिखी जाती है। नये युग का निर्माण होता है, नये आदर्शों की स्थापना होती है और नयी मान्यताओं का सृजन होता है। कवि का संवेदनशील मन इन अनुभूतियों, आदर्शों एवं मान्यताओं से प्रभावित होकर कुछ न कुछ कहता है। मैंने भी कुछ कहा है, केवल दर्शक के रूप में नहीं, प्रत्युत अभिनय में भाग लेने वाले पात्र की स्थिति में। निर्वाह कैसा हुआ यह दूसरे निर्णय कर सकेंगे, पात्र स्वयं नहीं। यद्यपि इन अनुभूतियों की प्रेरणा का स्रोत एक युग-विशेष है, फिर भी इन चित्रों का निर्माण जीवन के शाश्वत

रचनाओं की रेखाओं से किया गया है । स्वतंत्रता के पावन यज्ञ का सदैव समायोजन होता आया है और भविष्य में भी होगा । आहुति के लिए विकल प्राणों की आकुलता का सदैव आदर हुआ है और होगा । राजनैतिक परतन्त्रता तथा सामाजिक एवं आर्थिक विषमता को दूर करने का स्वप्न मानव-मन को सदैव अनुप्राणित करता रहेगा । इसी विश्वास से इस रचना-संग्रह को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने का साहस कर रहा हूं ।

संग्रह के तीन चरण हैं । सर्वप्रथम शाश्वत अनुभूतियों को साकार करनेवाली रचनाएँ 'स्वप्न और सत्य' के अन्तर्गत रखी गई हैं । दूसरा चरण कुछ विशेष घटनाओं से सम्बन्ध रखता है जिन्हें 'अतीत के पृष्ठ' के अन्तर्गत रखा गया है और तीसरे चरण में बाह्य-जगत् के कुछ चित्र हैं ।

इस संग्रह के प्रकाशन में इसे आद्योपान्त पढ़कर तथा उपयोगी सुझाव देकर प्रसिद्ध राष्ट्र-कवि श्री सोहनलाल द्विवेदी ने जो मेरी सहायता की है उसके लिए केवल औपचारिक आभार प्रकट करना उसकी महत्ता को कम करना है ।

१५ अगस्त '६०
प्रयाग

—देवेन्द्र दत्त तिवारी 'देवेन्द्र'

समर्पण

अपनी परम स्नेहमयी माता तथा
श्रद्धास्पद पिताजी के पुनीत चरणों
में, जिनके आशीर्वाद से मैं
इस योग्य हुआ ।

आभार-प्रदर्शन

इस पुस्तक के आवरण पृष्ठ के
चित्रांकन के लिए प्रसिद्ध
कलाकार श्री सुधीर
खास्तगीर को साभार
धन्यवाद ।

परिचय

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करनेवाले अपने देश का जीवन त्याग-तपस्यापूर्ण साधना की कथा है, अगणित मानवों की कोमल अनुभूतियों तथा स्वप्नों की आहुति का इतिहास है जो आग और आँसुओं से लिखा गया है। यदि साहित्य समाज का दर्पण है, तो इस सत्य को साकार रूप देनेवाली कृतियों में अग्नि-शिखा निश्चय ही एक विशिष्ट स्थान रखती है।

जब काव्य का विषय उत्तेजनापूर्ण हो तो यह भय होता है कि कला कहीं भावुकता के प्रवाह में बह न जाये और कविता केवल सस्ती उत्तेजक वारुणी न बन जाये जिसकी मादकता क्षणिक एवं अचिरस्थायी होती है। देवेन्द्रजी ने बड़ी ही कुशलता से अपनी सुन्दर कल्पना, प्रौढ़ एवं प्रांजल भाषा, मौलिक भाव-व्यंजना तथा तीव्रतम रसात्मकता के सुचारु समन्वय से भावुकतापूर्ण अनुभूतियों को कविता का रूप दिया है।

कवि ने अपनी कृति में सौन्दर्य के साथ-साथ शाश्वत सत्य एवं चिरन्तन 'शिव' को सामने रक्खा है। उन्हीं के शब्दों में—

"मैं नहीं पुरातन का सेवी
हूँ दास नहीं मैं नूतन का,
जो सत्य पुरातन-नूतन में
वह एक भाव अपने मन का।
मैं लिखता हूँ इसलिए नहीं
कोई प्रसन्न हो या उदास
होती है कवि की सार्थकता
जब हो समाज का कुछ विकास" (पृष्ठ २)

"ऐसा युग हो जिसमें कोई
भूखा न रहे प्यासा न रहे,
औरों के सुख को छीन कहीं
जीने की अभिलाषा न रहे।

हो और न अपना स्वर्ग कहीं
यह बने धरा ही स्वर्ग-धाम
देवों की पूजा छोड़ बनें
हम देव स्वयं, हों पूर्ण काम ।'' (पृष्ठ ३१)

कनाचार एवं शोषण से आक्रान्त मानव का कितना मार्मिक चित्रण है—

''है आग लगी धरती के हर कोने-कोने
घर-घर, हर मन में सुलग रही चिनगारी
हर मानव चलता-फिरता वन्हि-मुखी है
आँखों से उसके झाँक रही लाचारी ।'' (पृष्ठ ११)

और मानव की इस विवशता का नाश करने के लिए समाज में जो तूफान उठा है उसके प्रति कवि का कितना असीम आकर्षण है—

''इन तूफ़ानी लहरों पर बहने दो मुझको
तट की नीरवता, मौन न भाता है साथी !
मेरा मन रह-रह आकुल हो उठता है
हर लहर विकल हो मुझे बुलाने जब आती ।'' (पृष्ठ ११)

श्री देवेन्द्रजी आशावादी साहित्यकार हैं। जीवन में संघर्ष, हार-जीत तो लगी ही रहती है। सफलता का मूल्यांकन प्राप्ति एवं परिणामों से नहीं किया जाता, प्रत्युत कठिनाइयों से निरन्तर संघर्ष करने के प्रयास को गौरव मिलना चाहिए—

''शत शत जन के स्वेद-रक्त से
जो प्रासाद खड़ा है
पक्षी का तृण-निर्मित घर तो
उससे कहीं बड़ा है ।'' (पृष्ठ १०)

''अपनी पीड़ा सबकी पीड़ा
सब एक साथ ही क्षय होगी,
केवल मंजिल पर बढ़े चलो
निश्चय ही अपनी जय होगी ।'' (पृष्ठ १६)

"यह अँधेरा दूर होगा
हम बुझेंगे और बुझकर फिर जलेंगे,
जिन्दगी की एक मंजिल रात है;
ऐसी न जाने मंजिलें कितनी,
किन्तु घबराओ नहीं,
कारण कि सूरज की किरण
आ ही रही होगी।" (पृष्ठ ६५६)

कवि ने अपनी कल्याणी प्रतिभा का, दार्शनिक विचारधाराओं का 'भगवान् से शिकायत', 'जीवन का लक्ष्य', 'सभ्यता की रात' शीर्षक कविताओं में निरूपण किया है, किन्तु दार्शनिकता में चिन्तन-काव्य की नीरसता नहीं है।

शब्द-चित्रों के आँकने में श्री देवेन्द्रजी सिद्ध-हस्त हैं। निर्धन किसान अपनी प्रिया का परिचय देते हुए कहता है—

"गाँवों में जो हो निर्वसना
चिथड़ों में लज्जा ढँकती-सी
वह मेरी होगी औ' उसके
अन्तर में मेरी प्रीति बसी।" (पृष्ठ ३५)

उसके घर के वर्णन में शब्दों की व्यंजना देखिए—

"मेरा घर है जिसमें पशु का
रहना भी होता है दूभर
जिसमें सूरज की किरणें भी
आते-आते जाती हैं डर।" (पृष्ठ ३५)

कारागार में बन्द विद्रोही बन्दी का एक चित्र है—

"अरे युगों से पाप और अभिशाप-ग्रस्त जीवन के प्रति
साकार सजग विद्रोह!" (पृष्ठ ५७)

तारों के लिए कवि कहता है—

"किसी परिधान पर सजते हुए कुछ फूल-से लगते
मानवों के क्षुब्ध मन के स्वप्न के बिखरे हुए कण।" (पृष्ठ ५६)

हरे-भरे गेहूँ के खेतों में पीली सरसों कैसी सुन्दर लगती है—

"हरे खेत में पीली सरसों
ऐसी सजी छबीली
मानो सावन के आँगन में
मधु ने खेली होली ।" (पृष्ठ १०१)

"चौराहे पर" शीर्षक कविता कवि की प्रसिद्ध रचना है जिसको पढ़कर, सुनकर आँखें भींग जाती हैं। इसमें कवि ने जीवन की उपेक्षित जीवन-धारा का मर्म-स्पर्शी चित्रण किया है और सामाजिक व्यवस्था पर तीव्र प्रहार ।

कवि की कृति ही उसका सबसे बड़ा परिचय है। श्री देवेन्द्रजी प्रौढ़ साहित्यकार हैं, उनकी दृष्टि में सूक्ष्मता के साथ-साथ व्यापकता है । उनकी कल्पना में गगन-चुम्बी शिखरों की उड़ान है जिनके पद-तल धरती की वास्तविकता से विच्छिन्न नहीं होते । राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन की घटनाएँ उन्हें उसी प्रकार प्रभावित करती हैं जैसे उनके अपने निजी सुख-दुख हों। कवि की आत्मा का समाज एवं राष्ट्र के जीवन से एकाकार होना स्वभाव-जन्य होता है—वह कृत्रिम परिष्कार एवं परिश्रम से नहीं प्राप्त होता ।

बरसों से मैं श्री देवेन्द्रजी को रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ता आया हूँ, गोष्ठियों, कवि-सम्मेलनों में मन्त्र-मुग्ध होकर सुना भी है । यों तो राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित अनेक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं किन्तु निकट अतीत के स्वतंत्रता-संग्राम से सम्बन्धित अनुभूतियों का इतना समन्वित, सजीव, मार्मिक एवं कलापूर्ण संग्रह मेरे सामने नहीं आया। आशा है हिन्दी-जगत् इस कृति का समुचित सत्कार करेगा। कवि की प्रतिभा निरन्तर विकसित होती रहे, ऐसी मेरी हार्दिक शुभ कामना है ।

—सोहनलाल द्विवेदी

रचना-क्रम

प्रथम चरण

स्वप्न और सत्य

द्वितीय चरण

अतीत के पृष्ठ

[परतन्त्रता की संध्या और स्वतन्त्रता के विहान में घटित महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय घटनाओं से सम्बन्धित]

तृतीय चरण

कुछ चित्र

प्रथम चरण

स्वप्न और साहित्य

कवि

अपने विचार मुझको अपने प्राणों से प्रिय, विश्वास करो।

मैं कवि हूँ, लिखता रहता हूँ
भावस्थ हुआ, स्वच्छन्द छन्द,
छन्दों की धारा में बहती
गंगा की पावन गति अमन्द।

जिसके अविरल इस वर्षण से
मानव के शव मुस्करा उठे,
जन-मन ने चेतनता पायी
सूखे तरु-तृण लहलहा उठे।

वह कविता क्या जिससे मानव
के पग कुछ आगे बढ़ न सकें,
ओ जग के द्रष्टा! मत अपनी पीड़ा के ही उछ्वास भरो।

मैं नहीं पुरातन का सेवी
हूँ दास नहीं मैं नूतन का,
जो सत्य, पुरातन-नूतन में
वह एक भाव अपने मन का।

मैं लिखता हूँ इस लिए नहीं
कोई प्रसन्न हो या उदास,
होती है कवि की सार्थकता
जब हो समाज का कुछ विकास।

स्वाधीन हुआ है देश किन्तु
मंजिल अब भी है दूर बहुत,
सब के सुख, सब की प्रगति-मुक्ति के लिए महान प्रयास करो।

मेरा तन सीमित, पर मन की
गति सह न सकी अवरोध-बन्ध,
बन्धन के भीषण स्वर मेरी
वाणी को सुन कर हुए मन्द।

है धूल स्वर्ग का सुख मुझको
धरती का अतुल विभव पानी,
सत्ता सिंहासन की न दबा
सकती है आत्मा बलिदानी।

चलना पड़े मुझे यदि अपने
मुक्त विचारों की इति, शव पर,
शत-शत बार सत्य कहता हूँ—
मुझे मरण का पथ श्रेयस्कर।

रहूँ अकेला, विश्व - विरोधी,
अगणित शूलों से पथ रोके,
ओ मन के विश्वास ! कठिन क्षण में जय का उल्लास भरो।
अपने विचार मुझको अपने प्राणों से प्रिय, विश्वास करो।।

●

अग्नि-दीक्षा

अग्नि-दीक्षा का समय है, हे हृदय ! पाषाण बन जा ।

सुखों के संगीत - वादन
ताल-स्वर सब कुछ भुला दे,
मृदुल, प्रेमिल बन्धनों की
चेतना को विष पिला दे ।

स्वजन-जन के मोह-क्रन्दन के लिए निष्प्राण बन जा ।

भूल कर मधु स्वप्न के स्वर
मसल काँक्षा - कुसुम सुन्दर,
तीव्र पीड़ा की कसक सह
आँसुओं को रोक पल भर ।

आज व्याकुल विश्व के हित शांति का वरदान बन जा ।

हो रही क्यों तीव्र धड़कन
है परीक्षा, क्यों विकम्पन ?
एक पल वीरत्व का
या कायरों का कल्प जीवन ?

यज्ञ की आहुति रुकी है त्याग का अभिमान बन जा ।
अग्नि-दीक्षा का समय है, हे हृदय ! पाषाण बन जा ।

•

सफलता

साधन और साधना देखो
साधक की सीमाएँ,
तभी बनेंगी लघुता - गुरुता
की सत् परिभाषाएँ ।

शत-शत जन के स्वेद-रक्त से
जो प्रासाद खड़ा है,
पक्षी का तृण-निर्मित घर तो
उससे कहीं बड़ा है ।

कठिन नहीं है रवि का जग में
ज्योति - किरण फैलाना,
अधिक श्लाघ्य है लघु तारों का
तम से लड़, मुस्काना ।

परिणामों से नहीं सफलता
का होता निर्णय है,
कभी हार भी समझी जाती
जग में बड़ी विजय है ।

●

इन तूफानी लहरों पर

इन तूफानी लहरों पर बहने दो मुझको
तट की नीरवता, मौन न भाता है, साथी,
मेरा मन रह-रह आकुल हो उठता है
हर लहर विकल हो मुझे बुलाने जब आती।

है सरल नहीं तट का बचना कुछ भी हो
उसको भी गति के गीत कभी गाना होगा,
कितने विलीन तट हुए इसी धारा में
जो शेष, विवश उनको भी जाना होगा।

है आग लगी धरती के हर कोने-कोने
घर-घर हर मन में सुलग रही चिनगारी,
हर मानव चलता-फिरता वह्निमुखी है
आँखों से उसके झाँक रही लाचारी।

यह ठीक नहीं लपटें किस दिन, आ घेरें
जो दर्शक उन्हें स्वयं अभिनय करना हो,
इस लिए करो कुछ पहले से ही ऐसा
जिससे ज्वाला में फिर न कभी जलना हो।

•

मुक्ति के स्वर

कैसे मुक्ति-भरे स्वर गा लूँ ?

दिशा-दिशा में निश्चित पथ हैं,
निश्चित गति, निश्चित इति-अथ हैं,

कैसे बन्धन में छन्दों के मैं स्वच्छन्द सुधा को ढालूँ ?

मुझे न जग-बन्धन अप्रिय हैं,
मुझे न वे संयम अप्रिय हैं,

जिनमें सबका सुख हो, पर कुछ, मैं अपना भी मधु सुख पालूँ ।

जहाँ न सीमित गति, इति, अथ हों,
जहाँ न आशाएँ प्रतिहत हों,

जिस पर सुख के क्षण बिखरे हों, मैं कैसे वह राह निकालूँ ?
कैसे मुक्ति-भरे स्वर गा लूँ ?

●

जीवन संघर्ष

जीवन संघर्षों का क्रम है।
यदि एक प्रश्न का हल पाया
तो अन्य समस्या खड़ी हुई,
कब से दुर्बल नर की छाती
द्वन्द्वों के सम्मुख अड़ी हुई।

मानव - मानव के स्वार्थ भिन्न
नर औ समाज के स्वार्थ भिन्न,
अपने मन के ही द्वन्द्वों के
मिटते देखे हैं कहाँ चिह्न ?

युग - युग से हम लड़ते आये
सागर, सरिता, धरती, नभ से
जल - वायु - यान, ये यन्त्र - जाल
प्रस्थित हैं अपने जय - ध्वज से।

जल औ ज्वाला में संघर्षण
पल-पल तृण-तृण संघर्ष-विकल,
सरिता पाषाणों से लड़ कर
तट काट-काट कहती अविरल-

जीना आसान नहीं जग में जीवन तो अथक परिश्रम है।
जीवन संघर्षों का क्रम है।

तूफानों में अवनत-सिर हो
मुर्दा-मन हो, संश्लथ-पग हो,
पथ तय न हुआ, जय मिल न सको
चाहे जितना सीधा मग हो।
वे दुर्बल जो अपने आँसू
रोक न पाते उर-अन्तर में,
वे कायर जो दया-दान की
भीख माँगते हैं घर-घर में।
निष्ठुर जग से हमदर्दी के
सिवा और क्या मिल सकता है ?
क्या इतने हो से जीवन का
बोझिल पथ कुछ झिल सकता है ?
लेकिन, घोर निराशा जब हो, सब कहते इतना क्या कम है ?
ज़ीवन संघर्षों का क्रम है।
मुझको देखो, हास देख कर
लोग समझते हैं प्रसन्न हूँ,
कोई दिल देखे तो समझे
मैं कितना व्याकुल, विषण्ण हूँ !
किन्तु न मेरे घाव मर्म के
केवल शब्दों से पुर पाते,
हाहाकार सहज हो, साथी !
मेरे कभी नहीं सो जाते।
फिर भी आँखों में करुणा ले
नहीं विश्व के सम्मुख जाता,

नहीं याचनामय मानव का
रूप सहन मैं हूँ कर पाता।
विकल न संघर्षों - तूफानों
में मैं अश्रु बहाता जाता,
और न मन की दुर्बलता से
रोता और रुलाता जाता।
पीड़ित जग को अपनी पीड़ा देकर अधिक दुखाना भ्रम है।
जीवन संघर्षों का क्रम है।

आहों को पर कभी न खोता
बहती हैं बन कर अनल-श्वास,
पथ के ये शूल - शल्य बनते
शृंगार और उर का विलास।
आंखों का पानी सूख-सूख
अंगार बना जलता रहता,
छाती पर पत्थर, अन्तर में
तूफानों का सागर बहता।
लेकिन फिर भी उन्नत-शिर हो
पत्थर-गिरि हो सहता रहता,
तिनका हूँ, पर तूफानों के
सागर-पथ पर हँसता बहता।
इसको लाचारी मत कहना, यह सहनशीलता, संयम है।
जीवन संघर्षों का क्रम है।

मजबूरी में वे सहते हैं
स्वीकार पराजय जो करते,

रोते, रुकते, झुकते जाते
बाधाओं से जो हैं डरते।

पर मैं न विजित हूँ या उदास
यह विश्व उपेक्षामय पाकर,
हिम्मत बढ़ती ही जाती है
पथ पर कंकड़-पत्थर खा कर।

मेरी ही तरह सहो मानव,
लेकिन न विवश, दुर्बल मन से,
उर में आशा के दीप धरो
किंचित् न डिगो अपने प्रण से।

इस दया, दान, हमदर्दी से
तूफ़ान न मिट जाएँ अपने,
रो कर न हृदय हलका करना
भूलो न कभी मन के सपने।

अपनी पीड़ा, सब की पीड़ा
सब एक साथ ही क्षय होगी,
केवल मंजिल पर बढ़े चलो
निश्चय ही अपनी जय होगी

माँगो न भीख, माँगो न दान
जो माँग रहे, वह तो हक है,
विश्वास स्वयं में संचित हो
तो ध्येय-प्राप्ति में क्या शक है?

हम स्वयम् सुखों के निर्माता अपने दुख के कारण हम हैं।
जीवन संघर्षों का क्रम है।

●

भगवान से शिकायत

सृष्टि के प्रारम्भ से मानव अभी तक क्यों दुखी है ?

जब कि शासक विश्व का वह जो सृजन-संहार करता,
इस धरा का, उस गगन का विपुल जो शृंगार करता।
और जिसके इंगितों पर सुबह होती शाम होती,
सूर्य से दिन, शशिकिरण से यामिनी अभिराम होती।
सर्वदा जिसकी कृपा से ही यहाँ पर वृष्टि होती,
पल-विपल में दृष्टि से ही प्रलय होता, सृष्टि होती।
शक्ति का ऐसा समन्वय ! पूर्णता जिसकी प्रथित है,
फिर बताओ मानवों का मन यहाँ पर क्यों व्यथित है ?

या हमारी दुर्दशा से हो रहा वह भी सुखी है,
सृष्टि के प्रारम्भ से मानव अभी तक क्यों दुखी है ?

सृष्टि का निर्माण, बोलो, किस लिये उसने किया है ?
यदि किया तो मानवों में भेद क्यों इतना दिया है ?
क्या न सम्भव था उसे, या है न सब को सम बनाना ?
कुछ यहाँ पर शक्त हैं तो अन्य दुर्बल क्यों ? न जाना।
कर्म का फल ! तो प्रथम के पुण्य थे क्या, पाप थे क्या ?
प्रथम मानव के बताओ पूर्व-संचित शाप थे क्या ?

और उसके बाद तो अपने श्रमों से, साधना से,
विश्व-मरु उर्वर किया निज रक्त से, आराधना से।
कर्म का फल ही अगर है, कुछ अधिक अधिकार मिलते,
पुण्य के, तप के हमें कुछ तो उचित प्रतिकार मिलते।

पर यहाँ निष्क्रिय सुखी हैं, दासता हमको लिखी है।
सृष्टि के प्रारम्भ से मानव अभी तक क्यों दुखी है ?

न्याय-शासन का यही क्या, अर्थ प्रभुता का यही है ?
यह प्रजाजन का प्रपीड़न क्या अराजकता नहीं है ?
क्यों भला शासक बना फिर जी रहा मन, कल्पना में ?
स्वयं आत्म-विघात क्यों करता नहीं, किस वंचना में।
भूख से मानव मरे, लाशें सड़ें इन राज पथ पर !
अद्रवित हो देखता वह देवता बन आज पत्थर !
क्यों क्षुधा दी थी अगर उस ज्वाल में ही झोंकना था ?
क्यों मिली थी प्यास नर को, तृप्ति को यदि रोकना था ?
किन्तु उसकी अर्चना हित हैं बने मन्दिर, सुघर-घर,
सोचता हूँ मैं कि मानव पूजता है शाप या वर ?

याचना में चरण पर क्यों भ्रान्त मानवता झुकी है ?
सृष्टि के प्रारम्भ से मानव अभी तक क्यों दुखी है ?

आज उसका नाश हो जो कल्पना में जी रहा है,
और जिसके नाम पर नर रक्त नर का पी रहा है,
धर्म और अधर्म की प्राचीन परिभाषा न मानो,
सत्य और असत्य क्या, यह स्वयं समझो और जानो,

पाप-पुण्य बदल रहे, आकार शून्य बदल रहे हैं,
गर्त धरती से उठे, गिरि के शिखर पर चल रहे हैं,
स्वर्ग के सुख, नरक का भय, अन्य जन्म प्रलोभ मिथ्या
अन्य जन्म कहीं नहीं है, और है यदि, लाभ ही क्या ?
कर्म का फल, भाग्य का रोना न रोओ आज मानव !
है न दैवी यातना या सहन जो करते पराभव।
वर्तमान सुधार लो तुम तो भविष्य बना रहेगा,
अन्यथा मानव सदा यों ही हविष्य बना रहेगा।

देखते हो क्या न युग-युग से तुम्हारी गति रुकी है ?
सृष्टि के प्रारम्भ से मानव अभी तक क्यों दुखी है ?

•

हार मानूँगा नहीं

हार मानूँगा नहीं, मैं हार मानूँगा नहीं।

छा गई जीवन-गगन पर
घोर सावन-रात काली,
लग रहा है अब न देखूँगा
उषा की रश्मि–लाली,

किन्तु तम से हार, जीवन भार मानूँगा नहीं।
हार मानूँगा नहीं, मैं हार मानूँगा नहीं।

काँपता मन, पाँव डगमग,
दूर मंज़िल, दूर साथी,
और दुनिया कुछ सदय हो
है मुझे पीछे बुलाती,

मृत्यु के आह्वान को पतवार मानूँगा नहीं।
हार मानूँगा नहीं, मैं हार मानूँगा नहीं

एक धड़कन भी हृदय में
शेष जब तक रह सकेगी,
'बढ़ चलो हे प्राण! अब भी'
यह निरन्तर कह सकेगी,

वह प्रगति की प्रेरणा, निस्सार मानूँगा नहीं।
हार मानूँगा नहीं, मैं हार मानूँगा नहीं।

●

तुम न कवि

तुम न कवि, पीड़ा जगत की जो सके पहचान।

गगन को आँसू बहाते देख
तुम सो भी न पाए,
औ पपीहे की व्यथा से
विकल तुमने गीत गाए।

किन्तु क्यों देखा नहीं वह
आँख में आँसू किसी का ?
और मानव की व्यथा के
गीत क्यों लिखना न सीखा ?

चित्र क्यों खींचा नहीं जिसमें भरा हो प्राण ?
तुम न कवि, पीड़ा जगत की जो सके पहचान।

स्वयं के अवसाद में देखा
न जग का खिन्न आनन,
अहं में डूबे रहे समझा
न जग की व्यथा, पीड़न,

निज प्रणय, आशा-निराशा में
हँसे, आँसू बहाए,
पर उठा तूफान जो जग में
न उसके गीत गाए।

जीर्ण युग की शीर्ण हैं
वे रूढ़ियाँ, वे लौह–बन्धन,
नव युगों के स्पन्दनों को
है छिपाए आर्द्र अंचल।

देख पर पाए न तुम यह प्रलय-लय-निर्माण
तुम न कवि, पीड़ा जगत की जो सके पहचान।

●

मरु की तृषा पहचानता हूँ

आज अपनी और जग की, भूल से कुछ जानता हूँ।

अनवरत सूरज चले निशि
का, भरा श्रृंगार पाने,
बहुत सम्भव, तृषित मृग
मरु से न अपनी हार माने।

किन्तु मैं मृग-जल नहीं, मरु की तृषा पहचानता हूँ।

ये शलभ उड़ कर चलें
जलती शमा से प्यार करने,
औ भिखारी दान-शीलों
से चलें व्यवहार करने।

मैं न केवल हसरतें-लाचारियाँ अनुमानता हूँ।

कल्पना में कवि सुखों के
स्वप्न के संसार देखे,
तृप्त जन-जन के परस्पर
प्रीतिमय व्यवहार देखे।
वन्दना में पण्डितों की
टोलियाँ आकाश देखें,
भाग्य की रेखा पढ़ें औ,
काल्पनिक मधुमास देखें।
भ्रान्त कवि! इस विषम जग में
प्यास बुझना है असम्भव,
इस विषम जग में किसी की
भूख मिटना है न सम्भव।

सच न झूठे स्वप्न को, मैं सत्य ही सच मानता हूँ।

मजदूर और मधुमास

कह रहा जग मैं इसीसे जानता मधुमास आया।

आज यौवन के हरित–ध्वज
वन - लता - द्रुम झूमते हैं।
ये भरे नव खेत सज, ऋतु-
राज के पद चूमते हैं।

अवनि - अम्बर ने महोत्सव
में नवल परिधान पाए।
अमृत - वर्षी कण्ठ - स्वर में
कोकिला ने गान गाये।

मंजरित द्रुम – वृन्त पर
उन्माद - बेसुध झूल झूले।
आज मालिक ने कहा था
देख सरसों - फूल फूले।

शिशिर का अवसान मधु का हास कितना पास आया।
कह रहा जग मैं इसीसे जानता मधुमास आया।

वे प्रकृति – सौंदर्य, स्वर
देखे, सुने सब ने निराले।
देख पर पाया न कोई
दग्ध-उर के घाव, छाले।

और मुझ मज़दूर का
पतझर कभी जग ने न देखा,
खींच दो किसने न जाने क्यों
अमिट दुर्भाग्य – रेखा ?

वर्ष भर बरसात आँखों में
भरी रहती यहाँ पर,
जो रहा हूँ विश्व में मैं
ग्रीष्म का उर में अनल भर।

एक पतझर हूँ न जिसमें भूलकर भी हास छाया।
कह रहा जग मैं इसीसे जानता मधुमास आया।

जग मनाता है खुशी जब
पर्व औ त्योहार आते,
पर मुझे तो एक-से दिन
एक-से सब वार भाते।

दूसरों की बात से हो
मैं मनाता उत्सवों को,
मैं न रखता हूँ खुशी
अपनी, न देता दूसरों को।

हम गरीबों के नहीं ये
पर्व औ त्योहार होते,
हैं हमें तो काटनी यह
ज़िन्दगी की राह रोते।

चेतना मुझको दुखों की, विश्व को उल्लास लाया।
कह रहा जग मैं इसीसे जानता मधुमास आया।

प्रयाण-गीत

हम हिन्द के जवान, हम हिन्द के जवान।

क़दम-क़दम बढ़ें कि मंज़िलें न तय हुईं,
क़दम-क़दम बढ़ें कि मुश्किलें न हल हुईं,

पर्वत की चोटियों पै गाड़ दें अमर निशान।
हम हिन्द के जवान, हम हिन्द के जवान।

क़दम बढ़ें कि एक लक्ष्य, एक आश हो,
क़दम बढ़ें कि एक दृष्टि, एक श्वास हो,

बढ़ चलें करोड़, हो प्रतीत एक-प्राण।
हम हिन्द के जवान, हम हिन्द के जवान।

अन्याय पर प्रहार वज्र का अभय बनें,
हम दर्द के लिए सदा मृदुल-सदय बनें,

ऐसा कुछ करें कि देश हो सुभग महान।
हम हिन्द के जवान, हम हिन्द के जवान।

ग़रीब औ' अमीर का न भेद-भाव हो,
न ऊँच-नीच, जाति-पाँत का प्रभाव हो,

सभी मनुष्य हैं, रहें सभी सदा समान।
हम हिन्द के जवान, हम हिन्द के जवान।

यह अपना देश सत्य-मार्ग पर सदा चले,
अपने स्वार्थ के लिए न अन्य को छले,

चिर विजय से गूँज उठे धरती आसमान।
हम हिन्द के जवान, हम हिन्द के जवान!

अभियान-गीत

दुनिया क्या समझ सके उनको जो मन में भाव हमारे हैं ?

अन्तर के आँसू निकल-निकल
आँखों में बने अँगारे हैं,
अब मरने-जीने की बातें
ही होती साँझ-सकारे हैं।

सुख-स्वप्नों की दुनिया के, आँखों में साफ इशारे हैं।
दुनिया क्या समझ सके उनको जो मन में भाव हमारे हैं।

आहों में आज बहा करते
प्रिय, प्रलयंकर उनचास पवन,
है काँप रहा भूतल पल-पल
हैं थर्राते पाताल-गगन।

हम अडिग पथिक, हम हैं अजेय विजय-श्री कभी न हारे हैं।
दुनिया क्या समझ सके उनको जो मन में भाव हमारे हैं।

हम बढ़ते जाते हैं पथ में
दृढ़ दृष्टि, समुन्नत भाल किये,
पग-पग में अब दृढ़ता है कुछ
भीतर भीषण हुंकार लिये।

हम कभी न भूलेंगे उनको जो मन में घाव हमारे हैं।
दुनिया क्या समझ सके उनको जो मन में भाव हमारे हैं।

परवाह नहीं एकाकी हों
छाया तम हो घनघोर, घना,
आदर्श-विरत होंगे न कभी
हम कभी न होंगे म्लान-मना।

बलिदान शहीदों के तम में बनते पथदर्शी तारे हैं।
दुनिया क्या समझ सके उनको जो मन में भाव हमारे हैं।

मत प्रिय पूछो, तुम चले कहाँ ?
आना हो साथ चलो तुम भी,
हाँ, आज जला सकते हो यदि
अरमानों की होली तुम भी।

देखें खे-खे कर माँझी की लगती कब नाव किनारे है ?
दुनिया क्या समझ सके उनको जो मन में भाव हमारे हैं।

हम चल आये हैं बहुत दूर
कंधों पर गुरुतर भार लिये,
हमको न सुहाती रँगरलियाँ
जीवन की, विष की झार लिये।

हम व्रती, धीर हैं, तापस हैं हम सहनशीलता धारे हैं।
दुनिया क्या समझ सके उनको जो मन में भाव हमारे हैं।

हम कभी न चाहेंगे नर से
नर का कोई संग्राम ठने,
संघर्ष न भाता है हमको
पर लड़ें न, तो क्या भीरु बनें ?

प्रलयंकर शंकर का ताण्डव चालों में आज सँवारे हैं।
दुनिया क्या समझ सके उनको जो मन में भाव हमारे हैं।

हाँ, देख सके हम क्यों न कभी
सुखमय जीवन की दो घड़ियाँ ?
वैभव के द्वार बन्द हैं क्यों ?
क्यों प्रतिबन्धों की हथकड़ियाँ ?

क्यों रोते ही दिन-रात यहाँ काटते विवश, बेचारे हैं ?
दुनिया क्या समझ सके उनको जो मन में भाव हमारे हैं।

रहते हैं हम दुनिया ही में
पर अलग हमारी बस्ती कुछ,
जिनके दिल में है दर्द वहाँ
हम ऐसों की हस्ती है कुछ।

हम दुनिया नयी बनायेंगे ऐसे कुछ भाव हमारे हैं,
दुनिया क्या समझ सके उनको जो मन में भाव हमारे हैं।

•

सर्वहारा का गीत

क्या भूल सकेगा वह पल भर
शोषण के पापाचारों को ?
युग-युग से उत्पीड़ित मन को
युग-युग के अत्याचारों को ?

उसकी कराह औ आहों में
मानव की करुण कहानी है,
पर वैभव में भूले जग ने
कब सुनी और कब जानी है ?

चीथड़े लपेटे आज वहाँ
खेतों का ईश्वर सोता है,
फिर भी दाने को तरस-तरस
अपनी किस्मत पर रोता है।

शोषण करने वाले बोलो,
उसने क्या पाप कमाया है ?
अपराध यही शोणित अपना
पानी की तरह बहाया है।

उसने गैरों की ही ख़ातिर
दी मिटा स्वयं अपनी हस्ती,
फिर उन निर्मम के हाथों ही
लुटती आई उसकी बस्ती।

ओ जग की सत्ता, सँभल आज ।
वह भी तेरा हल समझ गया,
उसने उर में पाया अपने
अब विप्लव का संदेश नया ।

अनुचित प्रभुता का चिर विनाश
उसके जीवन का व्रत अटूट,
वह शंकर नहीं महा – शंकर
पी रहा युगों से कालकूट ।

ओ युग से उत्पीड़ित ! उठ कर
निर्माण करो नूतन युग का,
जिसमें शोषण का नाम न हो
सब कुछ हो, सबके हित, सबका ।

ऐसा युग हो जिसमें कोई
भूखा न रहे प्यासा न रहे,
औरों के सुख को छीन कहीं
जीने की अभिलाषा न रहे ।

सोने चाँदी के टुकड़ों पर
हम बिक न सकें, हम जी न सकें,
उनके ही हित, सुख–सुरा मधुर
थोड़े ही जन ये पी न सकें ।

हो और न अपना स्वर्ग कहीं
यह बने धरा ही स्वर्गधाम,
देवों की पूजा छोड़, बनें
हम देव स्वयं, हों पूर्ण-काम ।

मैं दिल के नग्मे गा न सका

मैं दिल के नग्मे गा न सका।

समझा था जिसको है बस्ती,
कुछ अपनों की, इन्सानों को,
उनमें दिल था पर पत्थर का
कुछ नीयत थी शैतानों की।

इस हैरत और परेशानी में अब तक राहत पा न सका।

पंडित, मोमिन, पादरियों ने
यह राज़ खुदाई बतलाया,
कुछ ने कुदरत का खेल और
उसके उसूल को समझाया।

समझाया सबने पर कोई कुछ बात सही समझा न सका ?

सदियाँ बीतीं इन्सान मगर
अब तक कुछ आगे बढ़ न सका,
अपनी कमजोरी, बीमारी-
का राज़ अभी तक पढ़ न सका।

किसने बतलाया क्यों ढलते
इतने सूरज हर सुबह यहाँ ?
किसने बतलाया क्यों बुझते
जलते दीपक हर शाम यहाँ ?

क्यों साँझ यहाँ आती उदास
हर रात यहाँ सूनो-सूनी ?
हर सुबह नई फ़िक्रें लाती
हर दिन ग़म, मायूसी दूनी ?

बस इसीलिए खुल कर अब तक मैं दिल के नग्मे गा न सका ।

परिचय

मेरे अन्तर में छाले हैं, पर लिये हुए अंगार नहीं।

जब आग उगलता है अम्बर
तपती धरतो, लपटें बहतीं,
खेतों में श्रम की कथा अमर
यह दिगम्बरी काया कहती।
अपने हाथों से कर डाले
कितने ऊसर - बंजर उर्वर,
अपने बलसे, अपने हल से
धरती पर सोना गया बिखर।
है रक्त बहा युग-युग से तब
यह भूमि हुई है वसुन्धरा,

पर व्यंग्य नियति का कैसा है उस पर अपना अधिकार नहीं।
मेरे अन्तर में छाले हैं, पर लिए हुये अंगार नहीं।

मेरे बच्चे नंगे – गन्दे,
कुछ नाक बही, मक्खी भिनभिन,
फिरते होंगे कूड़े - करकट—
कीड़ों–से वे अति दीन, मलिन।
घरवाली को अवकाश कहीं
जो शिशु–पालन में काटे दिन,

गांवों में जो हो निर्वसना
चिथड़ों में लज्जा ढँकती सी,
वह मेरी होगी औ' उसके
अन्तर में मेरी प्रीति बसी।
जो शोषित - दलित - तिरस्कृत हैं
उनको समझो मेरा साथी,

औ' जो समाज से परित्यक्त संसृति का मिले विकार कहीं।
मेरे अन्तर में छाले हैं पर लिये हुए अंगार नहीं।

मेरा घर है जिसमें पशु का
रहना सचमुच होता दूभर,
जिसमें सूरज की किरणें भी
आते – आते जाती हैं डर।
यह पर्णकुटी कब सह पाई
अम्बर की करुणा का निर्झर ?
बैठे – बैठे तब रात बिता
देते, शिशुओं को उर में भर।
आबादी से कुछ दूर कहीं
खँडहर से कुछ मिलता–जुलता,

वह महल हमारा ही होगा झोपड़ियों का संसार कहीं।
मेरे अन्तर में छाले हैं, पर लिये हुए अंगार नहीं।

●

अभिलाषा

तूफ़ान चाहिए मुझे, तूफ़ान चाहिए !

मैं चाहता नहीं चलूँ प्राचीन राह पर,
मैं चाहता नहीं जियूँ जग की निगाह पर।

मैं अपने मील और अपने कोस चाहता,
मंज़िल पै अपनी चलने का मैं जोश चाहता।

अपनी खुशी रुकूँ सदा अपनी खुशी चलूँ,
है श्रेय अपनी राह, क्यों न नित्य हो जलूँ।

मैं अपनी चाल पर न कभी रोक चाहता,
मैं अपनी भूल पर न कभी शोक चाहता।

न सीख चाहता हूँ, न पछताव चाहता,
जो चिन्ह छोड़ दे न मैं वह घाव चाहता।

यदि पर-दया से सुख की राशि भी मुझे मिले,
छोड़ उसे मुझे अग्नि-पथ-अभियान चाहिए !

माना कि ये चलाव और लोक-रीतियाँ,
सीमाएँ, रूढ़ियाँ तमाम लोक-नीतियाँ।

पिछले श्रमों, परिश्रमों की एक शृंखला,
मानव जो आज तक सदैव जोड़ता चला।

जब वे ही गति, प्रगति की आज बेड़ियाँ बनीं,
जब वे ही लक्ष्य तक विरोध-श्रेणियाँ बनीं।

तो आज उनको एक साथ क्यों न तोड़ दूँ ?
फिर आज उनको एक साथ क्यों न छोड़ दूँ ?

वे पथ तमाम और सब पगडंडियाँ वही,
ऊँचे निशान उन पै, और झंडियाँ वही।

गुमराह करके आज वे उत्थान रोकतीं,
औ' भ्रम में डाल के मुझे हैरान छोड़तीं।

तो क्यों न अपनी राह अलग मैं निकाल लूँ ?
अपने भविष्य को न भला क्यों सँभाल लूँ ?

औ' जग को उन पथों की वे आसानियाँ रहें,
मुझको कबूल हर क़दम हैरानियाँ रहें।

सुन जिस पुकार को चले कितने अतीत में
बस उस पुकार का मुझे सम्मान चाहिए !

मैं चाहता न फूल मिलें अपनी राह में,
हमदर्द जग न साथ रहे अपनी आह में।

मैं पथ में छाँव चाहता न, धूप चाहता,
जो तप के भी निखर सके वह रूप चाहता।

होवें न चाँद-तारे, मिले वह मुझे निशा,
उल्काएँ आसमान की हों पथ-प्रदर्शिका।

जब मैं कभी-कभी उम्मीद खो उदास हूँ,
कमज़ोरियों से अपनी कभी मैं हताश हूँ ।

तो उनकी याद चाहता जो पहले चल चुके,
मैं उनके चिन्ह चाहता जो पहले जल चुके ।

शंकर की भाँति आज विप्लवी प्रयाण में,
अमृत न चाहिए, मुझे विषपान चाहिए !

मेरे कदम बढ़ें सदैव उस दिशा की ओर
मिल सके जहाँ मनुष्य के दुःखों का छोर ।

निर्देश चाहिए नहीं पण्डित-पुरान का,
आदेश चाहिए नहीं मुझको कुरान का ।

हर शाम नाउम्मीदियाँ मेरी सुला सकें,
जो स्वप्न मर रहे हों उन्हें फिर जिला सकें ।

सहास प्रात की किरण सन्देश दे नया,
कुछ प्रेरणा नयी मिले, आवेश दे नया ।

कदम नये, औ' पथ नया, मंजिल नयी रहे,
औ अपने में विश्वास सदा ही सही रहे ।

फिर भी न अपने देश को मैं पा सकूँ अगर,
मंजिल न अपनी फिर भी कहीं जा सकूँ अगर !

तो लक्ष्य-प्राप्ति के अटूट, शुभ-प्रयास में,
मुझको अगण्य जन्म का वरदान चाहिए !

मैं चल रहा नहीं कि लोक में सुनाम हो,
या फिर भविष्य में मुझे कभी प्रणाम हो ।

शायद न मैं समाज की कुछ गति बदल सकूँ,
सम्भव न मैं विरोध में खुद ही सँभल सकूँ।

पर विश्व-भ्रम में एक लीक मैं भी छोड़ता,
मुमकिन यहाँ समाज के बन्धन को तोड़ता।

कोई पथिक अगर कभी आराम पा सके,
मिट्टी शरीर की मेरी कुछ काम आ सके।

तो धन्य इस शरीर, जिन्दगी को मान लूँ,
अपने अकिंचनत्व को महान जान लूँ।

जो जग की रूढ़ियों में फँस के क्षार हो रहे,
उस धूलि की समाधि में ये कण भी मिल कहें–

जो आ रहे हों उनसे मौन झूम के कहें–
जो डर रहे हों उनके चरण चूम के कहें–

'इस विश्व की विभीषिका के चिर विनाश को
कुछ और खून चाहिए, बलिदान चाहिए!'

•

मानव

इससे भी पूछो, यह मानव है
क्यों इसके मुख पर हँसी नहीं,
मुसकान नहीं ?
क्यों आँखों में वह करुणा है
जो पिघला सकती पाषाण,
न पर मानव का कोमलतम अन्तर ।

सन्देह हो रहा है मुझको
क्या सचमुच यह भी मानव है ?
जो विधि की कृति सर्वोत्कृष्ट !
अरे नहीं, यह तो है नर-कंकाल,
अन्तर केवल इतना ही है,
यह चलता फिरता, है प्राण–युक्त,
वह प्राणहीन ।
यह कर फैलाये माँग रहा है प्राण-दान,
भिक्षा जीवन की
आहों में, उच्छ्वासों में लेकर कितने वरदान,
उसी वैभव के हित
जिसने दिये इसे कितने कठोर अभिशाप ।
जिसके कारण वह पानी पी-पी भूख मिटाता अपनी,
सड़कों पर, गलियों-गलियों में
कुत्तों के साथ चाटता है यह जूठे पत्ते ।

कूड़े-करकट में यह खोजा करता है जीवन की तृप्ति ।
गर्मी के जलते दिन
जाड़ों की ठंडी रातें
यों ही काट दिया करता है चीथड़े लपेटे ।
क्यों पूछ रहे हो घर उसका—
जिसकी, इस जीवन में, जग में
कोई भी ऐसी चीज़ नहीं,
जिसको वह कह सकता अपनी ।
धरती की नंगी छाती, बनती उसका विश्राम-धाम ।
छाया देता है आसमान,
उस भव्य भवन में—
उसने देखा था कल,
साहब के कुत्ते को दूध, मलाई खाते ।
बर्फ़ानी ठंडक में,
गद्दे पर, कम्बल-लिहाफ़ में सोते उसको ।
जब ठिठुर रहा था वह
और हवा के झोंके खेल रहे थे,
उसके लघु, दुर्बल, जर्जर जीवन से ।
सोच रहा होगा वह—
"जग की इस अतुल विभव-राशि का जूठन भी
यदि मुझको मिल जाता,
मैं भी जी लेता, अपना जी बहला लेता ।"
यह सोच-सोच, "मानव हूँ मैं
कुछ पैरों से ठुकराया जाने वाला
पथ का पाषाण नहीं ।"

ओ भोले शोषित मानव !
यह सब सपना है,
आँखों की करुणा में तुम भर लो रुद्र-तेज,
आहों में बहने दो
प्रलयंकर उनचास पवन।
अपने हाथों से सँवार लो
सुन्दर टूटे सपने।
लेकर अपने अधिकार
करो वह परिवर्तन,
जिसमें मानव की मजबूरी का
रहे न नाम - निशान कहीं ।

●

चौराहे पर

आयी उदास संध्या, मैं भी
घर से निकला, था कुछ न काम ।

भीतर कुछ संस्मृतियाँ जागीं
बाहर थी काफी चहल-पहल,
सड़कों के तट पर हँसते थे
वे मन्दिर, मस्जिद, बड़े महल ।

रजनी के अंचल की छाया
फैली, फिर छाया अन्धकार,
पल में नभ की गोदी में था
शशि–तारों का अनुपम सिंगार ।

मैं अनजाने ही पहुँच गया
पुर के उस भव्य चतुष्पथ पर,
जिसकी शोभा पर करता था
अभिमान हमारा महा नगर ।

मैं विस्मित सा था देख रहा
वसुधा पर उतरा मूर्त स्वर्ग,
कितना कोलाहल, चहल-पहल
कितनी सज-धज यह टीम-टाम ।

आयी उदास संध्या, मैं भी
घर से निकला, था कुछ न काम ।

सहसा भिखमंगा एक पार्श्व में
गिरा, भूमि पर हाथ–पैर,
था पटक रहा, मुँह रगड़ रहा
सहमे, जो थे कर रहे सैर।

आगे के कुछ टुट गए दाँत
माथे की थी छिल गई खाल,
मुँह से बहता था रक्त, रूप
लगता था उसका अति कराल।

मैंने पूछा, 'क्या हुआ इसे ?'
बोले अनेक कुछ विमन-भाव,
'इसका तो ऐसा ही जीवन,
इस पर मिर्गी का है प्रभाव।'

मैंने सोचा – 'किसकी खातिर
भारी सरकारी अस्पताल ?
किसकी ख़ातिर है मुफ्त खुला
औषधागार नूतन, विशाल।

जिसके कारण समझे जाते
अफ़सर, धनवाले दयावान,
जनता आदर जय–जय करती
पूजा करती है बड़ा मान।

क्या कभी चौरहे से पुर के
गुज़री होगी उनकी न कार ?
क्या छू तक नहीं सका उनके
अन्तर, इसका यह चीत्कार ?

यदि कुछ पैसों की दवा बिना
सोने-सा मानव तड़प मरे,
उनका धन झूठा, यश झूठा
मिथ्या है जग में बड़ा नाम।'

आई उदास संध्या, मैं भी
घर से निकला, था कुछ न काम।

मैं सोच न पाया था रोगी
के कष्ट-निवारण का साधन,
इतने में देखा कुत्ते से
लड़ बैठा जर्जर मानव-तन।

भू पर फेंके थे बाबू ने
अधखाए पत्ते इधर-उधर,
कूड़े-करकट में खोज रहा था
गिरे हुए दो-चार मटर।

पिछले दो दिन से भूखा था
पानी पीकर था भरा उदर,
कुत्ते से जीत न पाया वह
औ, भय से पेट न पाया भर।

हो कर निराश, आया मेरे
सम्मुख, फैलाया अपना कर,
बोला, 'भगवान भला कर दे'
फिर दिए न जाने कितने वर।

मैं ने कुछ पैसे दिए उसे
सोचा–अब फिर मैं चलूँ वहाँ,

आया था मन हलका करने
कुछ बोझिल ही हो गया यहाँ।
चलने को पैर बढ़ाए थे
इतने में मुझको लिया घेर,
कितने ही भिखमंगों ने फिर
मैं सह न सका, मुँह लिया फेर।
कुछ बच्चे थे औ अबला भी
विश्वास करो वह नंगी थी,
उसकी लज्जा तक ढक न सकी
दुनिया ऐसी बेढंगी थी।
मैं अखबारों में पढ़ता था
गाँठें सड़ गईं हजारों में,
निकली साहूकारों के घर
लाखों हो चोर-बज़ारों में।
क्यों दूर, वहीं पर देख रहा
कपड़ों से भरी दुकानें थीं,
धन का अभाव? आश्चर्य वहीं
सोने-चाँदी सो खानें थीं।
वे उस प्रकाश में क्षुधा-विकल
दुख की छाया से घूम रहे,
बाबू जीरा-जल पीते थे
लाला चूरन थे चूस रहे।
कोई अजीर्ण से खा न सके
कोई ज्वाला से जला करे,

जलते हैं फिर भी कहते हैं
'भगवान तुम्हारा भला करे।'

उन अनजानों को क्या कह दूँ
जो अपना दुख न समझ पाए,
औ' समझ न पाए दोषी वे
जिनको वरदान लिए आए।

मैंने सोचा—यदि ईश्वर है,
क्यों जन्म दिया जग में इनको ?
डरती है जिनसे मौत,
    और जीना भी जिनका है हराम।
आई उदास संध्या मैं भी,
    घर से निकला, था कुछ न काम।

मैंने सोचा—घर लौट चलूँ
सहसा आँखें फिर गईं उधर,
ऊपर छज्जों पर बालाएँ
बैठी थीं रूप भरे मनहर।

कोई उनमें से विधवा थी
जिसको समाज ने जगह न दी,
कोई कहती—'लोलुप नर ने
छोड़ा जब मेरी पत हर ली।'

कोई कहती—'है प्रिय न हमें
अपना यह घृणित दुखद जीवन,
मजबूरी में तन बिक जाता
है किन्तु न बिक पाता यह मन।

हैं आज वही पूजा करते
जो कल करते थे तिरस्कार,
हैं चरण चूमते आज वही
मन्दिर, मस्जिद के खुले द्वार।'

यह पाप जगत् का पुण्य बना
वासना नगर की शोभा है,
व्यभिचार पुरुष का यह कुत्सित
क्या कभी बताओ होगा लय ?

जब स्वयं हमारे सम्मानित
नेता, पण्डित मौलवियों की,
छाया में पनप रहा है वह
आशीष मिल रही कवियों की।

जो सदाचार पर हैं प्रवचन
करते प्रति दिन गम्भीर गहन,
पर रात काटते यहाँ और
दिन में भजते हैं राम-राम।
आई उदास संध्या मैं भी,
घर से निकला, था कुछ न काम।

थी रात जा चुकी अधिक और
मैं भी कोलाहल से ऊबा,
लौटा घर को अपनी, जग की
चिन्ताओं में खोया डूबा।
कुछ पग ही चल पाया हूँगा
सहसा मैंने खाई ठोकर,

कुछ लगा क्रोध पथ पर रक्खे
उस कूड़े पर, अपने ऊपर।
लेकिन उस कूड़े पर रक्खे
चीथड़े हिले, कुछ शब्द हुआ,
मैं सहम गया मानव था वह
कितना निष्ठुर प्रारब्ध हुआ।
मैं बोला—'भाई, क्षमा करो।'
वह नम्र-बचन बोला—'हुजूर,
हमरे कुछ लागी चोट नहीं,
हम मनई ना, पाथर – मजूर।'
मैं बोला—'जाओ घर सोओ
क्यों यहाँ मार्ग पर सोते हो?'
वह बोला—'है घर बार कहाँ
बाबू, मुझ पर क्यों रोते हो?'
उत्तर के प्रति हो उदासीन
उसने अपनी करवट बदली,
मन में कितने ही भाव लिये,
मैं लौटा ले उसका सलाम।
आयी उदास संध्या मैं भी,
घर से निकला था कुछ न काम।

•

जीवन का लक्ष्य

मैं सोच रहा हूँ जोवन का क्या लक्ष्य यहाँ, क्या साध्य यहाँ ?

कहते हैं राम, कृष्ण, ईसा
हज़रत धरती पर हुए अमर,
भगवान हुए, उनको पूजा
मन्दिर, गिरजा, मस्जिद घर-घर।
पर मैं कहता - यह वैभव तो
थोड़े दिन का ही, नश्वर है,
जब सूरज, चाँद सितारे हो
यह धरती, वह जो अम्बर है—
होंगे विलीन, इस मानव का
भी रह न सकेगा चिन्ह शेष,
उस आदि अन्त से रहित काल
की आँखों से यह रूप-वेष—
यह जीवन-क्रम, इतिहास दीर्घ-
देखो कितना लघु, अणु-कण है,
जैसे अपने इस जीवन का
लघु एक प्रहर, लघुतम क्षण है।

अमरत्व कल्पना है मन की
कल्पित सुख की है एक कथा,

सब उसके पीछे भाग रहे पर भक्त कहाँ, आराध्य कहाँ ?
मैं सोच रहा हूँ जीवन का क्या लक्ष्य यहाँ, क्या साध्य यहाँ ?

इस धरती पर कितने आये
जिनको हम कहते हैं महान,
उनकी जय और पराजय के
होते रहते हैं नित्य गान।
वैभव - विलास, उपदेश - वचन
को मिला बड़ा है लोक-मान,
यह सब महत्व, क्या मूल्य कि जब
इन सब पर होता पदाघात,
इतिहास बदलता रहता है
कहता न सदा है एक बात।
क्या है महत्व क्या लघुता है
यह जान रहा होगा अदृश्य,
यह कौन कहे जो वर्तमान
उसका कैसा होगा भविष्य ?

गुरुता - लघुता की उलझन में कैसे मानूँ क्या श्लाघ्य यहाँ ?
मैं सोच रहा हूँ जीवन का क्या लक्ष्य यहाँ, क्या साध्य यहाँ ?

सत् और असत् के पीछे कुछ
देखे मैंने विनिमय अनेक,
दोनों में करना कठिन भेद
दोनों का है अपना विवेक।

हर सत् में असत् छिपा है कुछ
हर असत् सदा सत् से मिश्रित,
है सत् अनन्त की रेखा - सा
पाते सब जिसका अंश विकृत ।

सत् और असत् की दुविधा में क्या श्रेयस् है, क्या प्राप्य यहाँ ?
मैं सोच रहा था जीवन का क्या लक्ष्य यहाँ, क्या साध्य यहाँ ?

•

सभ्यता की रात

दुख बहुत हैं, कुछ प्रकृति से ही मिले हैं,
पर बड़ा इस सभ्यता का साथ भी है।
रत्न-गर्भा उर्वरा है भूमि,
धन से धान्य से भरपूर ही है,
पर करोड़ों पेट भर खाते, न पाते वस्त्र,
रहने को न घर, मजबूर ही हैं।
धर्म-दर्शन की उठी आवाज़ ऊँची
प्रकृति से भी कर्म से भी
सब न कहीं समान होते,
किन्तु मैं कहता कि इस षड़यंत्र में
कुछ सभ्य मानव का विकलुषित हाथ भी है।
प्रेम, यौवन, वासना सबको मिली
सामान्य जन्म-स्वभाव हो है,
किन्तु आडम्बर कि बाहर साधु बनने के लिए
कुछ सभ्य मानव कह रहे—
हम देवता, दुर्बल नहीं हैं,
औ' छिपाए भाव मन के
जो न सचमुच पुण्य ही या पाप ही हैं,
क्योंकि अब तक हो सका निश्चित
न जग में पाप क्या है, पुण्य क्या है।
रीति-रस्म रिवाज रचते, रूढ़ियाँ
औ' सभ्यता का स्वाँग भरते हैं,

जो न पाया जा सका अब तक कहीं

उस सत्य का संधान करते हैं।
रूढ़ियों में, प्राण-मन-यौवन जगत् का
संकुचित, चिन्तित व्यथित मुरझा रहा है,
वासना अंकुश–रहित है, प्रिय नहीं, पर
सत्य कहता हूँ कि कष्ट-विधान में
अपना बड़ा अपराध भी है।
मान्यताएँ पाप की औ' पुण्य की
यदि हम बदल दें,
विश्व का दुख-भार कम होता।
औ' न मानव व्यर्थ के अभिशाप में फँस,
प्रकृति से हो दूर,
इतना बिलखता, रोता।
चल रहे हैं, यह न समझो
कि हम निर्बाध बढ़ते जा रहे हैं,
बहुत सम्भव है कि हम
प्रति दिन बिगड़ते जा रहे हैं,
क्योंकि सीधी रेख-सा
होता न सृष्टि–विकास,
चक्र-गति से चल रहा
उत्कर्ष, उसका ह्रास,
सभ्यता के दिन कभी थे
और, फिर आगे मिलेंगे,
आज की दुनिया मगर इतिहास में
मैं कह रहा हूँ सभ्यता की रात ही है।

फिर भी सितारे चल रहे हैं

रात है,
कितना अँधेरा है,
मगर फिर भी सितारे चल रहे हैं।

होते न तारे जो,
अँधेरे को न कुछ भी साँस मिल पाती
न उसका बोझ कम होता,
न केवल यह, धरा पर हम
अँधेरे को न सह पाते।
अभी तो इस अँधेरे में
दिखाई दे रहे हैं
वृक्ष, घर औ रास्ते भी कुछ,
चतुर्दिक् एक धुँधली ज्योति-सी छाई हुई है।
राह में चलते हुए जो हैं,
जिन्हें घर तक पहुँचना है,
उन्होंने शाम होते ही, न मानी हार
न घबराए,
उन्हें तो इन सितारों का सहारा है।
तनिक सोचो अगर तारे न होते ये,
न धरती ही कहीं दिखती,
न यह आकाश ही होता,

न ये घर, वृक्ष, राहें भी कहीं होतीं,
प्रलय-सा अन्ध-तम होता,
तभी तो सोच कर यह बात अन्तर काँप उठता है।
सितारे ये
किसी परिधान पर सजते हुए कुछ फूल से लगते,
मानवों के क्षुब्ध मन के स्वप्न के बिखरे हुए कण,
कह रहे हैं—
यह अँधेरा दूर होगा
हम बुझेंगे और बुझ कर फिर जलेंगे,
जिन्दगी की एक मंजिल रात है,
ऐसी न जानें मंजिलें कितनी,
किन्तु घबराओ नहीं,
कारण कि सूरज की किरण आ ही रही होगी।
रात है, कितना अँधेरा है,
मगर फिर भी सितारे चल रहे हैं।

●

द्वितीय चरण

अतीत के पृष्ठ

बन्दी

अरे, युगों से पाप और अभिशाप-ग्रस्त जीवन के प्रति
साकार, सजग विद्रोह ।
अग्रदूत रवि के तुम बन कर,
स्वर्ण-प्रात संदेश वहन कर,
घन-अंधकार के अन्त-मरण,
सस्मित प्रकाश के सुखद चरण
के अमर चिह्न ! ज्योति-स्फुलिंग !
ओ दिव्य, भव्य नक्षत्र !
देख न पाओगे यद्यपि वह स्वर्ण-विहान
जिसके हित मिट रहे तुम्हारे प्राण,
गला जाता है तन,
यौवन का उन्माद ढला जाता असमय ।
नहीं सुखों को ही, जीवन की भी आहुति दे दी
है लुटा दिया अपनों का जग, सपनों का जग,
ममता के पथ—उनके इति–अथ,
आवाहन कितने भुला दिए,
अन्तर के हाहाकार और
क्रन्दन चुपके से सुला दिए,
हे उग्र तपस्वी ! धन्य तुम्हारा है यह त्याग, अमर बलिदान !

नहीं तुम्हारे लिए बहा करता होगा स्वच्छन्द पवन !
नहीं तुम्हारे लिए किया करता होगा निशि का शृंगार गगन !

तुमको भी व्याकुल करते होंगे वियोग के निष्ठुर क्षण !
वातायन से कितने तारे झाँक-झाँक,
सहसा कितने उछ्वास पवन के, साँसों से आ-आ कर,
उन्मुक्त पक्षियों का कलरव—उनके वे मुक्त गान,
बाहर कोलाहल चहल-पहल,—पीड़ित करते होंगे यह सब,
कारण सब कुछ होने पर भी, मानव हो तुम ।
किन्तु फिर भी तुम हिमालय से अडिग,
है तुम्हारा लक्ष्य ध्रुव की भाँति निश्चल
जानते हो तुम, तुम्हारे बन्धनों से ही
प्रलय के गान निकलेंगे,
मुक्ति के आह्वान निकलेंगे,
और कितने ही लगा कर प्राण को बाज़ी
वरद शंकर-करों में ही
लिए नव सृष्टि का वरदान निकलेंगे ।
पल, प्रहर, दिन, मास कितने वर्ष युग-से एक-से,
कुछ पदों में आज सीमित है
तुम्हारा सिन्धु-सा विस्तार !!
बाँध रखा है तुम्हारा तन
समझ यह शत्रुओं ने
दाब रक्खेंगे धधकती आग, किन्तु
कल बतायेगा सही इतिहास,
युग का हास,
और पीड़ित पतझरों की कब्र पर
हँसता हुआ मधुमास
कैसी भूल थी वह !!

तूफान उठा तो सकते हैं

हैं तुच्छ धूल औ' तिनके पर तूफान उठा तो सकते हैं।

वह दीप जलाता जाता था
दुनिया बेबस परवानों की,

सहसा दल के दल शलभ चले
आहुति देने निज प्राणों की,

बुझ गया दीप, उसके प्रकाश
को पीता था वह अन्धकार !

वह बुझा दीप, वे चले शलभ
कहते थे यह जग से पुकार–

दो चार जलेंगे परवाने, पर आग बुझा तो सकते हैं।
तूफान उठा तो सकते हैं !

जीवन सुख-साधन से वंचित,
सबकी राहें हैं बन्द आज,

रो रहे एक-दो नहीं, सभी,
सब पर रोकें प्रतिबन्ध आज,

सब के सब रुकें, किन्तु रुकते
क्यों विप्लव के उद्धत प्रहरी ?

वे आज मौन क्यों प्राण-रन्ध्र
जिनमें प्रलयंकर स्वर-लहरी ?

सहमे भविष्य के भय से क्यों
देखो अतीत औ' वर्तमान,

हर रात लिये आई सँग में
स्वर्णिम जग-जीवन का विहान,

यह देश आज कंगाल बना
प्राणों की भीख माँगता है,

विस्मृत पिछले बलिदानों की
फिर से अब सीख माँगता है,

दो चार मिटेंगे दीवाने, पर याद दिला तो सकते हैं !
तूफान मचा तो सकते हैं।

●

सौ बातों की एक बात है

सौ बातों को एक बात है।

क्या भीख कहीं माँगे मिलती
है स्वत्वों की – अधिकारों की ?
तुम आह नहीं, उगलो ज्वाला
है आज चाह अंगारों की,
हाथ पसारे क्यों रोते हो
क्या - दान की प्रत्याशा में ?
बोल क्यों नहीं उठते पीड़ित।
आज और ही कुछ भाषा में ?

नहीं हमेशा रहने वाली अरे। निराशा भरी रात है।

यदि नहीं स्वार्थ तुममें जागे
जागे सम्मान शहीदों का,
मत करो निरादर मर - मिटने
वालों की उन उम्मीदों का,
प्रतिपल अपमान - पूर्ण जीवन
है प्रिय तुमको, धिक्कार तुम्हें।
पुरुषार्थ हीन हो मानव
कहलाने का क्या अधिकार तुम्हें ?
तड़पो, दान न माँगों तुम
ले लो अपने अधिकार सहज,

रह - रह पुकारती हैं तुमको
कब्रों से बलिदानी वह रज,

कितने गिरे हुये हो शोषित ! तुम्हें न इतना अभी ज्ञात है।

चल पड़ी आज मचली ऐसा
काँपे भू थर्राये अम्बर,
पानी के बदले आग और
अंगार बरस जाएँ जलधर,
सहमें सूरज औ' चाँद और
नभ से अनन्त तारे टूटें,
फिर एक नहीं सैकड़ों वज्र
तापस दधीचि के बन छूटें,
गिरिराज अडिग, डगमग होवे
बह चलें प्रबल उनचास पवन,
दिग्पाल भगें चिंघाड़, और
फट चलें शेष के शत-शत फन,
वह क्षीर सिन्धु में जो सोया
जिसने प्रभु को प्रभुता दी है,
निर्धन को निर्धन किया और
दुर्बल को दुर्बलता दी है।
चौंके, व्याकुल हो उठे देख
कुछ महा प्रलय की वे घड़ियाँ,
उसको निर्धारित रीति-नीति—
उसकी सीमाएँ, हथ कड़ियाँ--
हो जायँ नष्ट, हों टूक - टूक

कह दो उससे विश्राम करे,
बेहतर है मानव की दुनिया
में मानव अपना काम करे,

उस प्रलय और निर्माण बीच कोई रोके किसकी बिसात है ?

हिम्मत न हार बैठो तुमको
तूफानों से लड़ना होगा,
शोषण - शरीर के हाथ पैर
उर में कीले जड़ना होगा।
यदि हो न सको तुम सफल आज,
असफलता पर मत रो देना,
कुछ क्षणिक मुश्किलों बीच कहीं
साहस न पथिक तुम खो देना,

पानी ही पाषाण काटता वह देखो हिमगिरि प्रपात है।

मिट गये अगर इस यज्ञ बीच
भीषण ज्वाला धधका दोगे,
पीछे आने वाले, भूले—
भटकों को पथ दिखला दोगे।
बच गये अगर तो इन हाथों
अपने सपनों को सच करना,
मानव - मानव बन रहें यहाँ
ऐसे जग की रचना करना,

अंधकार का वक्ष चीरता उधर हँस रहा नव-प्रभात है।

●

विप्लव की उषा

आज विप्लव की उषा में कौन सा मैं गीत गाऊँ ?

जग उठा है विश्व सारा
चेतना को है निशानी,
अनल का स्वर बोलतो है
सजल नयनों की कहानी।
आज जीवन के क्षितिज पर
नये स्वर हैं, नये स्पन्दन
आज सत्ता के हृदय पर
चल रहा है काल-स्यन्दन।

प्रलय में मैं सृष्टि की ले प्रेरणा किस ओर धाऊँ ?
आज विप्लव की उषा में कौन-सा मैं गीत गाऊँ ?

गगन पर छाए हुए हैं
ध्वंसकारी प्रलय के घन,
व्रणों से मुखरित हुए हैं
रोषमय कितने अचल-प्रण

चाहता विद्रोहमय मन आज शिव-ताण्डव दिखाऊँ।
आज विप्लव को उषा में कौन सा मैं गीत गाऊँ ?

विघ्न - संकुल मार्ग पर मैं
आज सहसा चल पड़ा हूँ
जानता हूँ फूल को मैं
छोड़ शूलों पर खड़ा हूँ।

कौन मुझको रोक सकता
जब बढा मैं आज पथ पर ?
कब रुका है वेग सरिता का
हिमांचल से उतर कर।

मैं बढ़ा शुभ साधना में, पैर क्यों पीछे हटाऊँ ?
आज विप्लव की ऊषा में, कौन सा मैं गीत गाऊँ ?

विघ्न-बाधा का न भय है
प्रणय की होली जली है,
पागलों की स्वयं मिटने
आज यह टोलो चली है।

कोटि-पग उठ जायं जब मैं एक पग अपना उठाऊँ।
आज विप्लव की दिशा में कौन सा मैं गीत गाऊँ ?

●

अगस्त सन् १९४२ की क्रान्ति

उस दिन दीवानों की टोली

निकली उर में तूफान लिए
मर मिटने का अरमान लिए,
सर पर था कफन बँधा सबके
कर में जय-केतु सधा सबके।

प्रतिशोध और प्रतिहिंसा से बोली थी इन्कलाब बोली !

युग के अपमानों का बदला
लेने मानो सागर मचला,
ले चले हृदय में मधु सपने
हाथों में ले-ले सर अपने।

आजादी की देवी ने जब, उस दिन फैलायी थी झोली।

सो गये सदा के लिए वहाँ
कितने अपने खो गये वहाँ,
रोया अम्बर, काँपी धरती
छाई दीवानों पर मस्ती।

क्रूरों ने भोले युवकों पर बरबस जब बरसाई गोली।

उस दिन दीवानों की टोली

●

स्वतंत्रता-दिवस

आज मनाएँ पर्व-दिवस यह
हिन्दू और मुसलमाँ हिल-मिल ।
हो गया मुक्त यह देश
विदेशी शासन का शुभ अन्त हुआ,
उजड़े उपवन पर आज
युगों के बाद उदार बसंत हुआ ।
आज विश्व के सम्मुख अपने
मुख का कलंक यह दूर हुआ,
यह जन्म-भूमि निर्बन्ध हुई
बन्धन-वितान सब चूर हुआ ।
सागर फूला न समाता है
उसने पाया फिर स्वाभिमान,
छाती पर शासक बन घूमेंगे
अब न विदेशी महायान ।
अपनी ऊँची लहरों से वह
चूमेगा अपना विजय चिन्ह,
माँ के चरणों को धोएगा
जिनसे उसका गौरव अखिन्न ।
अपनी ही ध्वजा पवन सुन्दर
अपने अंचल को फहराए,

अम्बर के उर में अब न कहीं
वह "जैक" शूल सा चुभ जाए।

जागा प्राची का गर्व और
अपनी सभ्यता पुरानी का
जागा गौरव फिर से पुनीत
गंगा - यमुना के पानी का।

आज विश्व के कोने - कोने
में आशा की किरण जग गयी,
दलितों में उत्साह भर गया,
कायरता घर छोड़ भग गयी।

गाँव-गाँव में, नगर-नगर में
प्रान्त - प्रान्त में, देश - देश में,
दुर्ग - दुर्ग पर, छावनियों में
जन-मन औ' कण-कण अशेष में।
तीन रंग हों, तीन रंग हों
और तिरंगा लहरा जाए,
आज गुलामों की दुनिया में
स्वतंत्रता का यश छा जाए।
हम अपने ही हाथों अपने
जीवन का निर्माण करेंगे,
करें आज प्रण जो कुछ पाया
उसका हम सम्मान करेंगे।
किन्तु राजनैतिक स्वतंत्रता
को न समझना सब आजादी,

अपने पथ को तय हो पाई
पहली, नहीं आखिरी मंजिल।

आज मनाएँ पर्व-दिवस यह
हिन्दू और मुसलमाँ हिल-मिल ॥

भूल न जाना अपनी माँ का
स्वप्न न प्रिय पूरा हो पाया,
नहीं मिला वह गान युगों से
जिसे प्राण में भर कर गाया।

यह स्वदेश - तन छिन्न-भिन्न है
भाई - भाई का मन मैला।

आज लुटेरों की चालों से
बँटवारे का कटु विष फैला।

हमने विष का घूँट पिया है
किन्तु यहीं पर अन्त नहीं है,
सीधा, साफ, सुगम, सुविधामय
अब भी अपना पंथ नहीं है,
आजादी तो सरल हो गई
किन्तु बहुत बाकी है मुश्किल।
आज मनाएँ पर्व-दिवस यह
हिन्दू और मुसलमाँ हिल-मिल ॥
क्योंकि यहाँ पर भूखे-नंगे
जब तक फिरते हैं सड़कों पर,
जब तक भूख प्यास से पीड़ित
रहते हैं घर - घर नारी - नर,

जब तक जन समाज में मानव-
मानव में रहता है अन्तर,
जब तक धन से, जन्म-हेतु से
अलग-अलग हैं जीवन के स्तर,
जब तक मुट्ठी भर मानव के
शोषण से पीड़ित है मानव,
जिनके कारण आज करोड़ों
जीवित ही बनते रहते शव,
तब तक कहना सरल नहीं है
बलिदानों का मूल्य मिल गया,
छाती के पत्थर का अपनी
सचमुच पूरा बोझ झिल गया।
माना हथकड़ियाँ टूटी हैं
किन्तु यहाँ तन-मन भूखा है
है जो किरण ज्योति यह कल को
धूल, धूम्र से बने न धूमिल,
आज मनाएं पर्व दिवस यह
हिन्दू और मुसलमाँ हिल-मिल।
हमने मंजिल तय कर ली पर
कितने चलने वाले न रहे,
सर पर बाँधे जो कफन चले
अनगिन वे मतवाले न रहे।
लो आशीर्वाद पलासी की
उस हारी हुई जवानी का,

औ सब वीरों के साथ-साथ
उस झाँसी वाली रानी का।

तदनन्तर कितने ही शहीद
जन की क्षति से हम कंगाल हुए,
माँ-बहनों के सिन्दूर उड़े
पूरब पश्चिम ये लाल हुए।

हो चुके बाग जलियाँ वाले
दो-एक नहीं वे अनगिन हैं,
इस आज पुण्य को तिथि पर तो
मन से न उतरते वे दिन हैं।

आती है याद हृदय भरता
जय हो अगस्त बलिदानी की,
है कभी खटकती याद बीच
में उस सुभाष अभिमानी की।

ओ लाल दुर्ग के विजय-केतु
तुम पा न सके वे वरद हस्त,
नेता ने जिसके हित खोया
तन - मन अपना यौवन प्रशस्त।

यह कौन कहे उनकी आत्मा
सन्तोष पा सकेगी किंचित्-
बलिदानों की यह याद आज
अन्तर को करती है बोझिल।

आज मनायें पर्व-दिवस यह
हिन्दू और मुसलमाँ हिल-मिल

आज यहाँ पर अपना मन यह
जाता दूर-दूर देशों में,
जहाँ हमारे कितने भाई
जीवन बिता रहे क्लेशों में।
कौमी त्यौहारों, उत्सव में
और युद्ध के जयोल्लास में,
ज़ब कि पताकायें फहरातीं
देश-देश की शुभ विलास में।
ओ सुदूर के दलित प्रवासी!
रोए होगे तब अन्तर में,
सोच सोच कर अपनी इज्जत
का न चिन्ह कोई अम्बर में,
होटल जलसों और जिन्दगी
के प्रतिदिन के व्यवहारों में,
गैरों से अपमानित होकर
हृदय जला था अंगारों में।
किस निराश दुखभरी आँख से
तुमने परवश देश निहारा,
कोसा होगा जन्मभूमि को
जो न दे सको तुम्हें सहारा।
आज उड़ाना तुम भी अपनी
खुशियों में अपना परचम ही
रक्षक सदा तुम्हारा होगा
तीन रंग का यह चिर संगी।

यों तो तुम्हें मिले होंगे सन्देश
तार, खत, बेतारों से,
किन्तु सुनोगे युग-परिवर्तन
सागर की लहरों ज्वारों से।

किस्मत जगी यहाँ होते हैं
नये रात दिन, युग पद नूतन,
हँसती है धरती सावन की
हँसता ऊपर है सान्ध्य गगन।
क्या न तुम्हें दिखलायी पड़ते
होंगे अपने घर के तारे,
कभी रात में बात पूछना
क्यों हँसते जाते हो झिलमिल ?
आज मनाएँ पर्व दिवस यह
हिन्दू और मुसलमाँ हिल-मिल।

•

गांधी जी के निधन पर

तीस जनवरी की संध्या को, हुआ महा बलिदान हमारा ।

यों तो जग की परवश धरती—
पर प्रातः संध्या की लाली,
में भरती हैं रँग सुहागिनें
धुले हुए सिंदूरों वाली ।
प्राची और प्रतीची के
श्रृंगार नित्य प्रति जो सजते हैं,
बलिदानों की रक्त-लालिमा
के ही वे बादल उठते हैं ।
किन्तु नहीं था ज्ञात कि उस दिन
की संध्या जो रँग लाएगी,
उसमें देश - पिता बापू की
ही अन्तिम आहुति जाएगी ।
घर-घर सूना हुआ, मौत की
खामोशी उतरी घर - घर में,
धरती, सागर और हिमालय
कण-कण, दिशा-दिशा अम्बर में ।
ऐसा लगता था कि धरा पर
महा भयंकर बज्र गिरा हो,

या कि प्रलय के उपक्रमण में
मूक, मौन हो गई धरा हो।
यों तो मरण सत्य ध्रुव ही है
किन्तु न सोचा तक था हमने,
कभी तुम्हें भी अलग करेगी
नियति हमारे संकट - क्षण में।
सूरज डूबा और बुझी वह
ज्योति, हमें जो ले चलती थी,
दुर्गम पथ पर हम चलते थे
साहस ले, जब वह जलती थी।
आज हमारा मन भय - कम्पित
डगमग पग हैं, साहस टूटा,
किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए हम
पथ छूटा है, इति–अथ छूटा।
तुमने समझा, तूफानों से
बच कर नाव किनारे पहुँचो,
झंझा कम है लेकिन देखो, अब भी कितना दूर किनारा।
तीस जनवरी को संध्या को, हुआ महा बलिदान हमारा।
तुम तो मर कर अमर हो गए
पर अनाथ हम तुमको खो कर,
किसको खोजेंगे, हम किसको
देखेंगे संकट पड़ने पर।

तुमने सब कुछ दिया देश को
किन्तु न अपने हित कुछ चाहा,
महा - शत्रुओं ने भी तुमको
मुक्त-कण्ठ से सदा सराहा।

तुम हिन्दू थे पर आत्मा का
विमल अमित विस्तार हुआ था,
सभी धर्म थे, सभी जातियाँ
सबसे एकाकार हुआ था।

सबसे तुमने किया प्रेम था, सबको अपना दिया सहारा।
तीस जनवरी की संध्या को, हुआ महा बलिदान हमारा।

●

* रेडियो की खबरें

रोज रेडियो से आती हैं खबरें
हम लड़ते हैं रण में प्रतिदिन
बन तूफानी लहरें ।

आज यहाँ, कल वहाँ
और परसों,
सातों समुद्र के पार
शांत सागर में,
यह चोटी, वह चोटी, और दुर्ग पर दुर्ग
लिये हमने दम भर में ।
छक्के जाते हैं छूट
जर्मनी-जापानी दल-बल के,
नहीं दुश्मनों की गलती है दाल
हमारे रण-कौशल से ।
हमारे प्रलयंकर हमले
करा देते हैं याद छठी का दूध,
चबवा देती हैं चने नाक से
कहीं सिक्ख, रजपूती पल्टन
कहीं बलूची, सिन्धी ।
दुनियाँ की आजादी के हित
बर्बर जुल्मों के क्षय, लय के

अपने यश, वीरता विजय के,
सुनते हैं इतिहास–शिला पर
चिन्ह बन रहे गहरे।
रोज रेडियों से आती हैं खबरें।

पर हम क्या हैं कोई हमसे पूछे,
हम आये हैं नहीं सोच
लड़ना आजादी का रण,
नहीं जानते तलवारों में
नहीं जानते इन वारों में
किन आदर्शों का संघर्षण,
नहीं चाहते रूसी जय या क्षय हो
इससे हमको क्या ?
यदि विजय गर्व उल्लास किसी को
और किसी को
अपयश, और पराजय हो,
हमको इससे मतलब ही क्या ?

हाँ इतना चाहा करते हैं
हार न होवे
ब्रिटिश फौज की,
वर्ना अपनी दुर्गति होगी,
पर लड़ते हैं दम के साथ।
क्योंकि,
ध्यान थोड़ा सा यह भी रहता है–
हिन्द-पठानों-रजपूतों की

वह पुश्तैनी शान
न मिल जाये मिट्टी में,
और देश भारत न कहीं
हो जाये बदनाम ।
पर आजादी के सैनिक हैं
यह सुन-सुन कर रोज़
कान हो गये बहरे ।
रोज़ रेडियो से आती हैं खबरें ।
हम क्या हैं यह कोई दिल से पूछे
हम गुलाम हैं,
वह अपना प्यारा देश–
वहाँ इन्सान नहीं मुर्दे रहते हैं
दो चार नहीं,
चालिस करोड़ ।
सच मानो—
उनमें से हम भी हैं
शव ही दो-चार,
नहीं देखते हो ये नर-कंकाल !
नहीं देखते हो थे पिचके गाल,
साफ जवानी के चेहरे पर
इतने बड़े-बड़े धब्बे !
ये काली गहरी चिन्ता-रेखायें ।
ऐसी हालत में हम ऐसे हैं
जीवित होता यदि देश,

अगर जिन्दा होते हम
अगर होता भारत आजाद
न जाने क्या करते हम ।
हम गुलाम हैं
औ' लड़ते हैं,
मानव बन कर नहीं
अरे ! बन यंत्र,
जैसे यह संगीन, तोप
बम-वर्षा कारी वायुयान ।
क्या याद न है तुमको वह दिन
जब हमने छीनी थी चोटी
दुश्मन से, खूँ पानी करके,
पर लहराते झण्डे देख-देख,
डूबे थे दिल, उतरे चेहरे
बस सोच-सोच कर यह प्रतिपल
अपना न यहाँ कोई निशान
जो सबसे ऊँचा हो फहरे,
रोज रेडियो से आती हैं खबरें ।
हम गुलाम हैं
पर आजादी के सैनिक हैं
यह सत्य नहीं है घोर कठिन उपहास,
इसका साक्षी है आकाश
जो देख रहा है अपनी सीमा-हीन आँख से
भारत की दुर्दशा, विवशता—
माँ की जन्जीरें, मजबूरी
और युद्ध आजादी का यह एक साथ ।

हम गुलाम हैं
पर आए हैं
औरों को करने आजाद।
टूटेंगे क्या अपने बन्धन ?
अरे नहीं, मजबूत बनेंगे
और रहेंगें हम गुलाम के ही गुलाम,
फिर इसके बाद।
सुना नहीं है क्या यह तुमने,
आजादी के वीर सिपाही
सब कर रक्खे बन्द,
और हमारा देश नहीं देश
बना है कारागार,
यातनागार,
और न जाने क्या-क्या होते होंगे अत्याचार।
कहाँ सही खबरें मिलती हैं
पा जाया करते हैं कुछ-कुछ
यों ही उड़ती-पड़ती खबरें
रोज रेडियो से आती हैं खबरें।

[* १९३९ में जब गत महायुद्ध आरम्भ हुआ, उस समय देश परतंत्र था। देश की इच्छा के विरुद्ध ब्रिटिश शासन ने इसे युद्ध में मित्रराष्ट्रों की ओर से सम्मिलित कर दिया। उस समय अंग्रेजों एवं मित्रराष्ट्रों का नारा यह था कि यह महायुद्ध स्वतंत्रता की रक्षा के लिए किया जा रहा है, यद्यपि भारत को उन्होंने परतंत्रता के बन्धन में जकड़ रक्खा था। अंग्रेजी सरकार ने भारतीय सिपाहियों को विदेशों में लड़ने के लिए भेजा। दूसरों की स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाले गुलाम भारतीय सिपाही की मनोभावना का चित्रण प्रस्तुत कविता में किया गया है।]

सैन फ्रेन्सिस्को सम्मेलन

हो रहा है—
सैन फ्रैन्सिस्को में सम्मेलन
शान्ति औ' सुरक्षा के विधान पर
होता विनिमय-परामर्श ।
विश्व के भविष्य का निर्णय होगा वहाँ !!
बड़े-बड़े ज्ञानी, अनुभवी, कूटनीति-दक्ष
प्रतिनिधि सभी राज्यों के—
होंगे एकत्र वहाँ
भारत को छोड़कर ।

क्योंकि वह—
दास है,
दलित है,
पराजित है,
जिसका नहीं है अधिकार निज भाग्य पर ही,
निश्चित करेगा क्या दूसरों की गतिविधि ?

भारत के प्रतिनिधि—
गौरव के प्रतीक,
आज बन्द हैं,
वे प्रतिनिधि
जिनके सामने

तुच्छ, अति तुच्छ हैं
सैन फ्रैन्सिस्को में आज जो मिल रहे
गहरे दाँव-पेंचों वाले ।
सब हो जाते मलिन
जैसे पूर्णचन्द्र-ज्योतित नभ स्थल में
झिलमिल तारक-दल
यदि जाते वे—
कर देते ज़बान बन्द ।
नत-मस्तक, लज्जित कर देते उन्हें
हिमि-गिरि सम अपनी उच्चता से ।
अद्वितीय योग्यता से,
कह देते—
विश्व-शांति तब तक असम्भव है धरातल पर
जब तक प्राची के प्रांगण में
गुलाम हैं,
भूखे हैं, नंगे हैं,
एक दो नहीं,
पूरे चालीस कोटि !
जो तुम्हारी तरह
हाथ, पैर, मुँह वाले
मानव हैं,
पर केवल नाम को ही
क्यों कि पशु से भी बुरा जीवन है ।

भारत के निवासियों का !
जिनके चरण चूमने में
कितने आमंत्रितों के पूर्वज
गौरव समझते थे !

पर यह सब स्वप्न है ।
भारत की कठपुतलियाँ
नृत्य दिखलाती वहाँ
गैरों के इशारे पर
भिन्न-भिन्न देशों के आमंत्रित, सम्मानित
प्रतिनिधि आये वहाँ ।

और,
भारत की विजय-लक्ष्मी
होती सम्मानित,
यदि होता स्वतंन्त्र देश !

कर फैलाये भीख माँगती है,
स्वतंन्त्रता की, जीवन की,
द्वार-द्वार जाकर
प्रतिनिधियों के,
फेरे लगाती है !

भारतीय हृदय
फटता है–
तीव्र वेदना से,

सोच-सोच
अपनी असमर्थता, विवशता, लाचारी को !
धिक्कार है भारत के निवासियो !
जीवित नहीं हो शव हो
रगों में खून नहीं,
पानी है !
सर्द पानी है !

●

[द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर विश्व की शांति एवं सुरक्षा की समस्याओं पर विचार-विनिमय करने के लिए सैन फ्रांसिस्को में विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ था। यद्यपि भारत ने युद्ध में पूरा सहयोग दिया था किन्तु न तो उसे स्वतंत्रता ही प्राप्त हुई और न उसके प्रतिनिधि को ही कोई स्थान दिया गया। फिर भी विश्व-जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित अमेरिका गई थीं। उसी समय का चित्रण कविता में प्रस्तुत किया गया है।] विश्ववाणी प्रयाग के जून १९४५ के अंक में प्रकाशित।

नेता जी के निधन पर

जब कि विप्लवी प्राणों की वह
गति निस्पन्द हुई थी,
जब कि मातृ-बलिवेदी पर
आहुतियाँ बन्द हुई थीं।
तब तुमने आह्वान सुना
माँ के अनन्य अनुरागी !
अन्तर में चालीस कोटि की
कटु प्रतिहिंसा जागी।
'त्रिपुरी' में शंकर-स्वर गूँजा-
आज दासता छोड़ो,
चिर विनाश में लीन भले हो
पर हथकड़ियाँ तोड़ो।
परवश जीवन से अच्छा
अस्तित्व दुखद मिट जाना,
महा पाप है अरे गुलामी
में जीना पछताना।
दिया दिव्य सन्देश, देश को
छोड़ चले ओ त्यागी !
और युगों के बाद हमारी
सोई किस्मत जागी।

था अपना दुर्भाग्य साधना
सफल न हुई तुम्हारी,
हारे तुम औ' साथ तुम्हारे
जन - मत - सत्ता हारी।

सुना कि बन्दी बन कर फिर तुम
न्याय दण्ड पाओगे,
और पराजित हो कर भी
जय-जय अखण्ड पाओगे।

एक ओर प्राणों के भूखे
तेरे वीर प्रवासी,
फाँसी के फंदे उत्सुक थे
संगीनें थीं प्यासी।

और दूसरी ओर तुम्हारे
कोटि कृतज्ञ पुजारी,
अनुपम त्याग, तपस्या, सेवा
से कितने आभारी।

जिनकी युग-युग की परवशता
जिनकी अमिट गुलामी।
के विनाश का प्रण बन आये
वे सब तव अनुगामी।

आतुर थे पूजा करने को
स्वागत औ' अभिनन्दन,
सुन शुभागमन सुख-विभोर था
पीड़ित जग का कण-कण।

पुलकाकुल हो रोम-रोम से
जन-मन ने यह गाया,
आज निर्धनों की कुटिया ने
खोया वैभव पाया।

किन्तु गरीबों को ही उस दिन
विधि ने सहसा लूटा,
'ताइ होकू' की पुण्य धरा पर
वायुयान वह टूटा।

धन्य धूलि-कण वे जिन पर वह
बहा रक्त बलिदानी,
धन्य भूमि जिसकी गोदी में
सोये हे अभिमानी!

अन्तिम क्षण तक माँ की आँखें
दर्शन को तरसी थीं,
पांडिचेरी में क्या जाने जग
कैसे वे बरसी थीं।

राख माँगती हैं गंगा की
संचित अभिलाषाएँ,
लाश माँगती हैं मुर्दों में
नव जीवन की चाहें।

विकल देश के शंकर कहते
लाओ अन्तिम साँसें,
कहाँ मिलेंगी विप्लव-क्षण में
फिर उनचास बतासें।

आज देश की आज़ादी के
बढ़ते जीवन-तरु को,
और गुलामों की युग-युग की
लाचारी के मरु को ।

जब कि शहीदों की रक्तांजलि
प्रति पल सींच रही हो,
नहीं शोक इसका कि आज तुम
अपने बीच नहीं हो ।

किन्तु कसक यह है न देवता
का शव तक भी पाया,
और न अन्तिम प्रहरों का कुछ
ठीक संदेशा आया ।

तुम पर है अभिमान, किन्तु
सम्मान न करने पाए,
नहीं शहादत पर मन के अर-
मान निकलने पाए ।

पर स्वतंत्रते ! भूल न जाना
याद कहानी रखना,
ताइ होकू के रक्तदान की
अमर निशानी रखना ।

ओ स्वराज्य के प्रथम देवता!
ओ पहले अधिनायक !
आज तुम्हारी मातृ-साधना
का कण-कण हैं गायक।
परवशता से मुक्ति देश की
जब इतिहास कहेगा,
सर्व प्रथम उल्लेख तुम्हारा
सदा सुभाष ! रहेगा।

●

आजाद हिन्द सेना के सिपाहियों के प्रति

तुम आह मत करो कि प्राण ! आह मत करो ।
शुभ राह भूलते हैं राष्ट्र औ' समाज जो
तुम उस दिशा के पुण्य-चिन्ह हो निशान हो,
बलिदान की कथा न थी, थी बन्द लेखनी
तुम चल पड़े तो फिर चली वो रक्त में सनी ।
गौरव से तुम लिखा रहे इतिहास देश का
तारों से तुम सजा रहे आकाश देश का,
फिर क्या हुआ जो उम्र जेल में व्यतीत हो,
औ' प्राण खोके आज गर्वमय अतीत हो ।
फिर क्या हुआ जो दुश्मनों के दिल के खार हो
फिर क्या हुआ जो गोलियों के तुम शिकार हो,
क़ौम पूजती है तुमको देश पूजता
औ, हर ज़बान कह रही कि मेरे देवता ।
अभिमान देश के !
वरदान देश के !
तुम दुश्मनों के जुल्म की परवाह मत करो ।
तुम आह मत करो कि प्राण ! आह मत करो ।

यदि राजद्रोह आज देश में गुनाह है
अपराध आज प्रिय स्वतंत्रता की चाह है,
तो कौन व्यक्ति जो न गर्व से यही कहे—
मंजूर जुर्म, यदि न जिन्दगी भी यह रहे ।

हर एक दिल 'स्वतंत्र हिन्द' का सदस्य है
यह सत्य है यथार्थ है न कुछ रहस्य है।
हर एक भारती सुभाष का ही भक्त है,
हर एक दिल में उनके सैनिकों का रक्त है।
तो 'रक्त दुर्ग', आज यह समस्त देश हो!
तो रक्त-भूमि आज यह धरा अशेष हो!
पर अपने जुल्म और अपने घोर पाप को,
हिन्दोस्तानियों के इस कठोर शाप को—
शुभ पुण्य मत कहो कि तुम वरदान मत कहो,
है दासता, गुलाम को कल्याण, मत कहो।

प्रत्यक्ष विश्व के—
सम्मुख भविष्य के,

अन्याय हित तो न्याय को गवाह मत करो।
तुम आह मत करो कि प्राण! आह मत करो।
यदि कौम की जबान का तुम्हें यकीं नहीं,
तो खुद तुम्हारी ही जमीन आसमान ही
कह दें कि बदनसीब और लोक-निंद्य में—
मज़बूर औ गुलाम निःसहाय हिन्द में—
यह क्या न राज - भक्ति आज देश-द्रोह है?
औ' क्या न राजशक्ति पाप और मोह है?
तो वे कि जो स्वतंत्रता के दीप ले चले,
औ' वे जो क्रान्ति के अमर प्रतीक बन जले,

हैं कैसे दण्ड्य वे?
हैं लोक - वन्द्य वे!

तुम उनके खून से अनीति-राह मत करो,
तुम आह मत करो कि प्राण ! आह मत करो।

फिर वह अनन्त काल जो अदृश्य देखता–
यह वर्तमान, भूत औ' भविष्य देखता–
औ' वह असीम शून्य जो अगण्य आँख ले
उस वृद्ध सूर्य, चन्द्र की प्रमाण-साख ले–
वे कह रहे हैं तुम से आज भाग्य साथ है,
यश-विजय साथ है, महान शक्ति हाथ है।
पर दुर्बलों के साथ जुल्म-जोर मत करो,
इतिहास को डरो कि कुछ भविष्य को डरो,
छूटे न दाग जो कभी वह बात मत करो,
जब हो रहा बिहान तो न रात तुम करो।
निज स्वार्थ के लिए,
अब व्यर्थ के लिए,
जो बह चुका प्रदीप वह प्रवाह मत करो।
तुम आह मत करो कि प्राण ! आह मत करो।

ये हिन्दू कह रहे हैं, मुसलमान कह रहे–
रजपूत कह रहे हैं, सिख–पठान कह रहे–
यह कौम कह रही है, हर जबान कह रही–
वे देश भक्त हैं कि देश उनका भक्त है,
उनके लिए शरीर, प्राण से विरक्त है।
अब प्राण - हव्य - होम के सुसाज सज रहे,
वैधव्य - कामना लिए सुहाग सज रहे !
उनके न पहले आज जो जवानियाँ मिटीं,
तो जान लो कि कौम की कहानियाँ मिटीं।

वे एक - दो नहीं कि कौम उनके साथ है,
चालीस करोड़ को जमीन, व्योम साथ है।
बलिदान याद करके राष्ट्र पाप धो रहा,
औ, रक्त स्नान के लिए विकल हुई धरा।
वह हार याद उसको जो प्लासी पर है मिली,
जो वोर लक्ष्मो को वीर झाँसी पर है मिली।
उसको गदर की याद है, जलियान बाग़ की,
भूली नहीं है वह अगस्त नौ की आग भी।
तुम खूब कर चुके,
हम खूब सह चुके,
न भूले कौम फिर वही गुनाह मत करो !
तुम आह मत करो कि प्राण ! आह मत करो।

●

[नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने जिस आजाद हिन्द सेना का संगठन किया था उसके प्रमुख सेनानी शाहनवाज, ढिल्लन तथा सहगल को प्राण-दण्ड देने के लिए ब्रिटिश सरकार ने लाल किले में मुकदमा चलाया। उस समय सम्पूर्ण राष्ट्र में एक भयंकर क्षोभ एवं क्रोध की आग फैल गयी और हर कोने से उनकी प्राण-रक्षा की माँग की गई। स्वयं प्रधान मंत्री पंडित नेहरू ने मुकदमे की पैरवी की। उसी राष्ट्रीय भावना का दिग्दर्शन इस कविता में किया गया है।]

दीवानी दुनिया

मज़हब के पीछे यह दुनिया आज हुई कितनी दीवानी।

माना हम में भेद बहुत है
माना हम में बहुत फर्क है,
लेकिन आपस में लड़ने का
क्या यह सचमुच सही तर्क है?
मजहब अलग-अलग होते हैं
ख्याल अलग होते हैं अपने,
फिर भी एक रहा करती है
कौमी मंजिल, कौमी सपने।

हमें याद है हैदर, टीपू औ'
प्लासी पर हार मिली जो,
हिन्दू कौन न जो रो देता
देख हार प्रति बार मिली जो।
रोम-रोम जल-जल उठता है
नव्वाबों की लाचारी पर,
अवध बेगमों की धोके से
इज्जत लुटी, लुटा जर-जेवर।

सत्तावन में साथ लड़े थे
एक साथ था खून बहाया,
पहली इनक़लाब की गंगा
में था हमने साथ नहाया।

दूर नहीं रंगून जहाँ हम,
एक साथ मिल कर रोये थे,
मुगलों की आखिरी शान की बनी कब्र पर, दुखद निशानी।

वह अतीत सपना लगता है
जब हम साथ हँसे औ' रोये,
हुए गुलाम, पसन्द गुलामी
हुई एकता के स्वर खोये।
अपने ही हाथों खुद हमने
अपनी किस्मत खोटी कर ली,
दुनिया की नजरों में हमने,
अपनी इज्जत छोटी कर ली।

कलकत्ता, नोआखाली में
निर्मम नर-संहार हुआ है,
बहा खून जो निर्दोषों का
उससे मलिन बिहार हुआ है।
बम्बई, इलाहाबाद, बनारस
गढ़ मुक्तेश्वर और हजारा,
की घटनाएँ मिटा रही हैं
सदियों का इतिहास हमारा।

आज कुल्हाड़ी मार रहे हैं
हम खुद ही अपने पैरों पर,
वज्र गिरे ऐसे मजहब पर
ऐसे खुदा और ईश्वर पर।

जिससे बूढ़े, बच्चों तक का
खून हो रहा कह 'हर-शंकर',
माँ-बहिनों की लाज लुट रही,
बोल साथ 'अल्ला हो अकबर'।

औ, मज़हब के दीवानो तुम
अरे धर्म के ठेकेदारो !
आज गरीबी के आटे में, और न भर-भर डालो पानी।

हिन्दू मुसलमान की धरती
आज उन्हीं का खून पी रही,
सात समुन्दर पार कहीं पर
इसी खून से कौम जी रही।

यदि उससे ही लड़कर इतना
हम अपना यह खून बहाते,
सच मानो हम नहीं धरा पर
परवश और गुलाम कहाते।
अपने इन दंगों-फसाद से
हम अपनी ताकत खोते हैं,
हालत पर अपनो इंसाँ क्या,
सुबह सितारे तक रोते हैं।

क्यों कहते हो कौम अलग है
मुसलमान हिन्दू न एक हैं,
एक खून है, एक जबाँ है
जमीं एक है, गगन एक है।

किस हिन्दू को यह न ज्ञात है
सूर और तुलसी की कविता,
मुग़लों की छाया में पनपी,
उदित कला-कौशल का रवि था ।

हम को भी है गर्व कुतुब पर
ताजमहल, कब्रों, मस्जिद पर,
औ' रहीम, रसखान सरीखे
कवियों पर, बाबर, अकबर पर ।
क्या हमने देखी न हुकूमत
शेरशाह सूरी, अकबर की,
क्या कह सकता है कोई यह
अँग्रेज़ों से वह बदतर थी ।

निश्चय अपना राज्य यहाँ पर
अंग्रेज़ों से अच्छा होगा,
हर हालत में अपना शासन
परदेसी' से अच्छा होगा ।
गैर-गैर ही है समझो यह
अपना-अपना ही होता है,
बन न सकेगा राम राज्य, पर आखिर होगा हिन्दुस्तानी ।

समझ रहे हो यदि परिवर्तन
में हिन्दुत्व बिगड़ जायेगा,
किन्तु विदेशी सत्ता में भी,
धर्म न कोई टिक पाएगा ।

देखो नष्ट सभ्यता होती
अरे, वेद की औ' इस्लामी,
हिन्दू वेद-पुराण भूलता
मुसलमान तालीम कुरानी।

छिप कर वार किया करती है
अंग्रेजों की नीति पुरानी,
समझो दुश्मन की चालों को
बहुत बुरी बेबसी गुलामी।
लड़ना ही है हमको यदि तो
पहले गैरों से हम लड़ लें,
और बाद में चाहे जैसे
आपस में हम निर्णय कर लें।

डरो न कुछ भी क्योंकि इस तरह
कौमें नहीं मिटा करती हैं,
जो अपने बल पर जिन्दा हैं
नहीं जुल्म से वे मरती हैं।
नहीं मुसलमाँ यहाँ अकेला
आज करोड़ों बसे हुए हैं,

जिन्दा-दिल कौमों की कैसे मिट सकती है कभी कहानी ?

समझ - सुलह से कम पाने में
भी बहबूदी काबिलियत है,
वर्ना आपस के झगड़े में,
सदियों तक अपनी शामत है।

मजहब नहीं सिखाया करता
घृणा, द्वेष, हिंसा शैतानी,
सही प्रेम का पथ है फिर क्यों,
हिन्दू-मुस्लिम दुश्मन जानी।
वंचित कर न सका है कोई
किसी कौम को अधिकारों से,
पर न हकीकत भी मनवाई
जाती दंगों, तलवारों से।
नहीं बढ़ा इस्लाम जमीं पर
जोर, जब्र, हिंसा, पशुबल से,
मजहब और उसूल बढ़े हैं
अपने खूँ, अपने तप-बल से।
मर कर हो इमाम जीवित हैं
ईसा सूली पर चढ़ कर ही,
आज मुहम्मद की रू जिन्दा
सबक मुसीबत का पढ़ कर ही।
दुनिया का इतिहास देख लो–
मजहब के पौदे के खातिर,
नहीं गैर के, अपने खूँ की
करनी होती है कुर्बानी।

●

देश के विभाजन के पूर्व हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक वैमनस्य, घृणा एवं विद्वेष की विभीषिका चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी और स्थान-स्थान पर बर्बरतापूर्ण रक्तपात से माँ का आँचल रंगा जा रहा था। उस समय को लज्जा-स्पद एवं भयावह स्थिति का चित्रण प्रस्तुत कविता में किया गया है।

तृतीय चरण

कुछ चित्र

माघ की संध्या

हरे खेत में पीली सरसों ऐसी सजी छबीली,
मानो सावन के आँगन में, मधु ने खेली होली।

पड़े पास में अरहर के घर
में भी हलके छींटे,
फूल, फैल, फल कर मुसकाती
मटर अमृत ले मीठे।

खड़ी ऊख पर पड़ी दिखाई
एक बसन्ती छाया,
उसकी हरियाली ने पायी
तापस की मन - काया।

बना-ठना यह चना अनमना
कवि ने प्रथम न देखा,
खींच रहा है दूर क्षितिज पर
कोई धूमिल रेखा।

उस जवान जौ गेहूँ में
ला, कहाँ-कहाँ से पानी,
सींच रही है थके करों से
जर्जर, भरी जवानी।

अर्द्ध बसन वह जरा-नमित तन
बीन रही तृण पत्ते,
क्योंकि माघ की रात
आग से कटती, जहाँ न लत्ते।
निष्फल आशाओं से बिखरे
नभ के मन में बादल,
झोपड़ियों का मन उदास है
देख नियति का यह छल।
लौट रहे नीड़ों को पक्षी
पशु-मानव अपने घर,
उदर-भरण करते पशु-पक्षी,
मानव उनसे बदतर।
कठिन शीत में तन पर केवल
अपनी लज्जा ढाँके,
भोले नर-नारी के तप की
कोई कीमत आँके।
कोई दिन होगा मनुष्य को
जब मनुष्य के नाते,
उचित मिलेगा भवन और
हँसते दिन, हँसती रातें।
प्रातः सायं सूर्य एक है,
एक मिलन का अवसर,
पर उदास क्यों शाम बनी है,
उषा निकलती हँस कर?

एक-एक कर कौन जलाती
नभ - दीपों की बाती,
तरु-तरु, तृण-तृण पर नीरवता
का स्वर भरती जाती।

युग-परिवर्तन, मकर-संक्रमण
पतझर का स्वर 'मर-मर',
डूब रहा है मधु-पगध्वनि में
गूँज गयी जो घर-घर।

●

जेठ की दोपहरी

यह खड़ी, जेठ की दोपहरी।

छाया भी सहमी सिमिट-सिमिट, कुछ खोज रही है छाँह और
ये गाय भैंस, वे जीव-जन्तु, विश्राम ले रहे ठौर-ठौर,
छा गया रात का सन्नाटा खेतों-खलिहानों बाग-बाग
साँय-साँय 'हू-हू' करती, बहती लू क्या बह रही आग।
ज्वालाओं, लपटों के अंचल से झुलसी भू औ' अम्बरतल,
यह सूर्य-मुखी क्या सोच-सोच पल-दो-पल को आकर ठहरी।

यह खड़ी जेठ की दोपहरी।

कुछ खाद-पात को छींट-छींट, खेतों को अपने जोत-जोत
कंधों पर हल का धरे भार, करमें फरुहा, सुख-ओत-प्रोत,
चल पड़ा कृषक धीरे-धीरे अपने वृषभों को हाँक-हाँक
सन्तोष-साधना-सा सजीव, आँखों से करुणा रही झाँक।
है पिये व्यथा का काल-कूट, है धन्य तपस्या यह अटूट,
कुछ डुबा रही कुछ तिरा रही उसको आशा-चिन्ता-लहरी।

यह खड़ी जेठ की दोपहरी।

संतप्त गगन के अंचल में जल-भरे जलद के चित्र खींच
फिर सोच-सोच लम्बी पुरवा जो देगी उसके खेत सींच,
दो पल मीठे सपनों में बह, पुरवा—विह्वल, सब गया भूल
फिर अनायास आ गई याद देना लगान, चुभ गया शूल।
इस तरह देखता धूप-छाँह, पहुँचा अपने दरवाजे पर
भू की छाती पर फोड़े-सा था घास-फूस का उसका घर,
जिसके सम्मुख कंकाल-शेष जर्जर किसान-काया ठहरी।

यह खड़ी जेठ की दोपहरी।

मेघ

मैं सृष्टि लिये, निर्माण लिये, मैं ही विनाश का महाभूत।

मैं सागर के उर में सोता
जीवन की गति का श्रम खोता,
रवि की स्वर्णिम रंगीन किरण
करतीं अब मुझसे आलिंगन।

कलुषित मानव की आँख बचा
हलके मलयानिल - यान सजा,
भरता मैं जब ऊँची उड़ान
भूतल पर सब लगते समान।

कवि की कोमल कल्पना सदृश जग के बन्धन से रह अछूत।

ऊपर उठ भूल न मैं जाता
मानव-सा फूल न मैं जाता,
नर की असफल इच्छाओं से
नभ-पथ में जो उड़ते-फिरते।

मैं भूल न जाता वे रजकण
उनका कर उर से आलिंगन,
ले साथ उन्हें विचरण करता
उनका संताप - हरण करता।

कितने अभिनव निर्माण लिए मैं महा प्रलय का अग्रदूत।

मैं ही पुष्कर, आवर्तक हूँ

मैं युग का सफल प्रवर्तक हूँ,

भू का सन्ताप न सह पाता

रवि का दुष्पाप न सह पाता।

साकार, सजग तब बन चलता

लेकर चपला की चंचलता,

ले बज्र पुरंदर का कराल

जो बना असुर का महाकाल।

उर में अमृत की धार लिये

बाहर भीषण संहार लिये,

छा जाता नभ में ओर-छोर

वसुधा को रस में बोर-बोर।

जग-कण कण को दे प्राण-दान मैं बनता हूँ सुख-शांति-दूत।

मेरा तन जग के हित विगलित

वसुधा का रोम-रोम पुलकित,

नीले, अछोर अम्बर - सागर

में बहते मेरे शव जर्जर।

सोने - चाँदी से सजा - सजा

रवि - शशि करते मेरी पूजा,

नभ रो-रो तारों को बिखरा

अर्पित करता अपनी श्रद्धा।

जीवन के तप के पुंज-सदृश

शोभित समाधि पर इन्द्रधनुष,

मैं नहीं मनुज ! मेरा जीवन बलिदानपूर्ण, है पुण्यपूत !

●

बाढ़

आये असाढ़, सावन, भादों
लाये कितना सागर से जल,
इतना बरसे दिन रात कि पखवारों तक भी सूरज न दिखा।
उन नागरिकों का भी मन ऊबा
जो जले जेठ के छालों पर
भीगी पुरवाई का मरहम
लेकर आई बरखा ऋतु का
आदर करते स्वागत करते ।
इतनी बरखा, धरती के मन में भी न समा
पाया धरती का पानी,
ऊपर नभ की नीली चादर
वह भीग-भीग
मटमैली धुँधली हुई और
झुक-झुक आई, लटकी नीचे
ऐसा मालूम हुआ मानो
तारे, सूरज औ' चाँद सभी
गल गये, बहे, उनका न पता
तलई, तलाब, गंगा-जमुना
ने साँस भरी ।
बह गये वृक्ष, पशु, अनगिन जन,
डूबे कितने ही नगर-ग्राम,

रोये किस्मत पर वे किसान
जिनकी खेतों से लगी हुई आशा डूबी
वे खड़े खेत पानी-पानी हो गये,
धरा जलमग्न हुई, हो गया प्रलय
घरबार छोड़, परिवार छोड़,
पुरखों की संचित भूमि छोड़,
भग गये लोग, मैदान बसे,
सुनसान भरा कोलाहल से।
मानव का कितना सर्वनाश
क्या महा भयंकर कठिन प्रलय
फिर भी कितने ही बाबू जन
की भीड़ लगी गंगा तट पर
कहते थे—'कितना सुन्दर दृश्य, रम्य है और मनोहर
आओ कर लें नौका-विहार
फिर कब आयेगा ऐसा सुखमय अवसर।'

●

दीपोत्सव

अन्धकार, अन्धकार, घोर अन्धकार !

आसमान वह जमीन पर उतर गया
रात का हृदय हँसी-खुशी से भर गया,
हँस पड़ी अमावसी निशा भी एक दिन
जिसकी कालिमा से काँपते नखत निहार।

हर अमाँ-निशा मुझे सदा भली लगी
क्योंकि इसमें तारकों की चाँदनी जगी,
सत्य है कि चाँद-सा प्रकाश है नहीं
किन्तु लघु प्रयास का महत्व लो सँवार ।

जल रहे दिये खुशी के गीत गा रहे
कुछ महल औ' मन्दिरों को हैं सजा रहे,
है बुझी गरीब दिल-सी किन्तु देख लो
आस-पास झोपड़ी, मकान की कतार ।

•

रात का एक चित्र

निकलीं अगणित झिलमिल-झिलमिल
नीले नभ में तारावलियाँ,
मानो नीलाम्बुधि में अनन्त
खिल गईं श्वेत सुमनावलियाँ।

खुल गयी गगन-पथ में किसकी
मुक्ता से भरी हुई झोली,
यह किसे खोजने निकली है
उत्सुक नक्षत्रों की टोली।

सर-सरिता-सागर में उतरे
तारों के अगणित दल के दल,
रह-रह, लुक-छिप क्रीड़ा करते
उर्मियों संग प्रमुदित पल-पल।

दिन के प्रहरों की चहल-पहल
सोई थक कर चुपचाप शांत,
मंथर-मंथर बहता समीर
निस्तब्ध, अलस, कुछ शिथिल, क्लान्त।

योगी के अंतर-सा प्रशांत
हो रहा सृष्टि का कण-कण है,
इस नीरव, मौन निशा में भी
कैसा असीम आकर्षण है।

रात का दूसरा चित्र

गिरायी काली चादर एक
विश्व पर रजनी ने चुपचाप,
शून्य ने भी आँखें दीं खोल
देखने को तम-कार्य-कलाप।

बन गया दिन का सूरज, चाँद
बन गई ज्योत्स्ना दिन की धूप,
हँस पड़ा जग का कण-कण मौन
पा गये जड़-चेतन नव-रूप।

दिवस के प्रहरों में बन उग्र
चला करता जो झंझावात,
वही बन कर निशि में अति नम्र
बहा करता बन मलयज-वात।

जागरण के वे सत्य जिन्हें
विकल रहते पाने को प्राण,
स्वप्न में बन सुखमय अनुभूति
मिला करते अयास, अनजान।

कल्पना के पंखों को खोल
उड़ा करता मानव स्वच्छन्द,
मिटाता अपनी भूख सदैव
छोड़ कर सीमाएँ, प्रतिबन्ध।

शीघ्र ही होगा सुख का नाश
निशा का होते ही अवसान,
गिराता अश्रु-विन्दु यह सोच
गगन गा-गा कर गीले गान।

थकित, अति क्लान्त दिवस के हेतु
मौन यह शांत निशा अभिराम,
मरण ज्यों आ जाता अनिवार्य
चाहता जब जीवन विश्राम।